जवाहर-साहित्य प्राप्ति स्थान

* श्री जवाहर विद्यापीठ

  गंगाशहर-भीनासर (बीकानेर) राजस्थान

* श्री अ.भा. साधुमार्गी जैन संघ

  समता भवन, बीकानेर-334001

* श्री जैन जवाहर मित्र-मण्डल

  महावीर बाजार,

  ब्यावर (राजस्थान)

श्री जवाहर किरणावली - किरण - 21

मोरवी के व्याख्यान

व्याख्याता
स्व. जैनाचार्य
पूज्य श्री जवाहरलाल जी. म. सा.

सम्पादक
श्री पं. शोभाचन्द्र भारिल्ल, न्यायतीर्थ

प्रकाशक
श्री जवाहर विद्यापीठ
गंगाशहर-भीनासर (बीकानेर) राजस्थान

प्रकाशक -

श्री जवाहर विद्यापीठ

गंगाशहर-भीनासर (बीकानेर) राजस्थान

द्वितीय संस्करण - जुलाई - 1972 (1100 प्रतियां)
तृतीय संस्करण - दिसम्बर - 1984 (2200 प्रतियां)
चतुर्थ संस्करण - जून - 1994 (1100 प्रतियां)
पंचम संस्करण - अक्टूबर - 2001 (1100 प्रतियां)

मूल्य : **18.00**

मुद्रक -

स्वामी कम्प्यूटर्स

बी.सेठिया गली,, बीकानेर (राजस्थान)

फोन - 546399

–: अनुक्रमणिका :–

******

प्रकाशकीय

'मोरवी के व्याख्यान' किरण 21 की चतुर्थावृत्ति पाठकों के हाथों में प्रस्तुत करते हुए असीम प्रसन्नता की अनुभूति हो रही है । इसके प्रथम व द्वितीय संस्करण धर्म निष्ठ समाजसेवी श्रीमान् फूसराजजी बच्छावत (बीकानेर) द्वारा प्रदत्त धनराशि से प्रकाशित हुए थे । तदनन्तर तृतीय संस्करण सन् 1985 में धर्म परायण आदर्श सुश्राविका श्रीमती राजकुंवर बाई मालू, बीकानेर के अर्थ सौजन्य से प्रकाशित हुआ था ।

युग प्रवर्तक, ज्योतिर्धर एवं क्रान्तिदर्शी श्रीमद् जवाहराचार्य वर्तमान युग के प्रभावक जैनाचार्य हुए हैं, जिन्होने सामाजिक जागृति, आध्यात्मिक चेतना व राष्ट्रीयता समन्वित आत्मधर्म की त्रिवेणी प्रकाशित कर भागीरथ कार्य किया है । साधना, संयम एवं चारित्रिक आदर्श के प्रतीक आचार्य श्री ने धार्मिक जड़ता, सामाजिक कुप्रथाओं एवं रूढ़िगत विचारधाराओं के विरूद्ध वैचारिक क्रान्ति कर सम्यक धर्म, आदर्श, समाज तथा साश्वत जीवन मूल्यों की प्रतिस्थापना की थी । अपने प्रवचनों में दहेज, मृत्युभोज, बाल–वृद्ध विवाह आदि कुरीतियों के उन्मूलन हेतु उदबोधन तो प्रदान किया है, तत्कालीन राष्ट्रीय आन्दोलन में सहभागिता हेतु जन–मानस को प्रेरित भी किया। सम्प्रदायातीत दृष्टि के धनी आचार्य प्रवर ने राष्ट्रीय धर्म को आत्मधर्म से जोड़कर अपने विचारों को नवीन आयाम दिया । लोक धर्मी आचार्य के रूप में आपने सत्याग्रह, अहिंसात्मक प्रतिरोध, खादीधारण, गोपालन नारी जागरण एवं व्यसन मुक्ति

जैसे रचनात्मक कार्यक्रमों में भागीदारी को धर्म का ही अभिन्न अंग माना ।

जैन धर्म–दर्शन की सूक्ष्म तलस्पर्शी विवाद एवं मार्मिक व्याख्यान करते हुए आपने शुद्ध धर्म को क्रिया से ऊपर मानकर जीवन से जोड़ने का सन्देश दिया । गम्भीर चिन्तक, प्रखर वक्ता एवं बहुमुखी विलक्षण प्रतिभा पुंज आचार्य श्री ने भारतीय सन्त परम्परा में अपना महत्वपूर्ण स्थान बनाया तो विपुल साहित्य सृजन कर मां भारती के भण्डार में अपूर्व अभिवृद्धि भी की । आपके प्रवचनों में संस्कार निर्माण जीवन उन्नयन एवं आत्म विकास की अद्‌भुत क्षमता है । आपकी वाणी को जवाहर किरणावली' के माध्यम से कालजयी बनाने हेतु ही श्री जवाहर विद्यापीठ की स्थापना हुई है, जो विगत अर्द्ध शताब्दी से इस दिशा में महत्वपूर्ण कार्य कर रही है । साथ ही विविध प्रवृत्तियों के माध्यम से संस्था ने जनहितकारी कार्य भी सम्पन्न किये हैं ।

कार्तिक शुक्ला चतुर्थी सं. 1932 को थांदला में जन्मे श्रीमद् जवाहराचार्य ने मात्र 16 वर्ष की आयु में महाव्रतों को धारणकर भागवती दीक्षा अंगीकृत की एवं सं. 1977 में आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हो गये । सुदीर्घ पदयात्राएं कर आपने प्रभु महावीर का सन्देश जन–जन तक पहुंचाया तो अपने विचारों में उन्हें प्रभावित/अलोकित भी किया । आषाढ़ शुक्ला अष्टमी सं. 2000 को आपका स्वर्गारोहण भीनासर में हुआ तो उनके प्रति अनन्त श्रद्धानिष्ठ एवं समर्पित श्रीमान् सेठ चम्पालाल जी बांठिया ने उनकी स्मृति में एक संस्था स्थापित करने का संकल्प किया । अनूठी सूझ–बूझ, अनवरत श्रम एवं अथक

प्रयासों से उनकी परिकल्पना श्री जवाहर विद्यापीठ के रूप में साकार हुई । हम इसे एक जीवन्त स्मारक के रूप में निरूपित करें तो कोई अतिशयोक्ति नहीं । अनन्य गुरु भक्ति से बांठिया जी भी स्मरणीय बन गये हैं ।

प्रस्तुत किरणावली में मोरवी के ऐतिहासिक वर्षावास के व्याख्यान संकलित हैं । इसमें सम्पत्ति और विपत्ति, आत्मा और परमात्मा, ज्ञान और दया, हृदय बल और मस्तिष्क बल तथा तल्लीनता जैसे गहन व तात्विक विषयों पर सरल व बोधगम्म विवेचन है तो श्री कृष्ण और आदिनाथ के आदर्श व प्ररणास्पद जीवन का चरित्र चित्रण भी किया गया ।

यह संस्करण संघनिष्ठ धर्मधुरीण, समाजसेवी, दानवीर सेठ श्री मान् छगनलाल जी बेद के अर्थ सौजन्य से प्रकाशित किया जा रहा है । आपका जन्म 1 जनवरी सन् 1910 को बीकानेर जिलान्तर्गत भीनासर गांव में हुआ था । श्रीमान् पन्नालाल जी एवं श्रीमती सुगनी देवी के लाड़ले ने अपनी कर्मठता व प्रतिभा से सफलता के शिखर छूकर भीनासर को भी गौरवान्वित कर दिया । मात्र 6 वर्ष की अल्पायु में पितृ श्री का स्वर्गवास हो जाने के कारण आपकी पढ़ाई कक्षा 2 से आगे चालू न रह सकी ।

आपने अपना व्यावसायिक जीवन 12 वर्ष की आयु में पूर्निया (बिहार) जिले के खूंट में प्रारम्भ किया । दो वर्ष पश्चात् आप कलकत्ता चले गये और वहां 7 वर्ष तक नौकरी की । 16 वर्ष की आयु में आपका विवाह गंगाशहर के श्री उमचन्द जी चोपड़ा की आत्मजा वखतुदेवी से हुआ । कलकत्ता में आप मै. हमीरमल चम्पालाल का कार्य देखते थे जिसकी

स्थापना दि. 1989 में हुई थी । आपके कठोर परिश्रम व समर्पण भाव से फर्म को आशातीत प्रतिष्ठा प्राप्त हुई । सन् 1947 में देश विभाजन के पश्चात् आपने व्यवसाय को तत्कालीन पूर्व पाकिस्तान में प्रारम्भ किया और दत्तचित्र होकर हार्दिक समर्पितता से जूट निर्यात कार्य का सम्पूर्ण विश्व में विस्तार किया । परिणाम स्वरूप आपकी कम्पनी ने जूट निर्यात के क्षेत्र में द्वितीय स्थान प्राप्त किया । आपने तीन बार विश्व भ्रमण किया और विदेशी प्रतिष्ठित क्रेताओं के साथ दीर्घ एवं गहन सम्बन्ध स्थापित किये । आपकी सफलता ने अन्य व्यक्तियों के लिए अनुकरणीय आदर्श प्रस्तुत किया । वस्तुतः आप जूट व्यवसाय के अग्रणी व्यक्ति रहे ।

आपने धार्मिक क्षेत्र में भी अत्यधिक रूची ली । श्री अखिल भारत वर्षीय साधुमार्गी जैन संघ की उदयपुर में स्थापना होने पर आप सन् 1963 में इसके प्रथम अध्यक्ष चयनित हुए । इस गरिमामय पद का आपने रतलाम व इन्दौर के अधिवेशन तक (तीन वर्ष) निर्वहन किया । आप श्री श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन सभा, कलकत्ता के ट्रस्टी भी रहे और भीनासर की श्री मुरली मनोहर गौशाला के ट्रस्टी हैं ।

भीनासर में जवाहर हाई स्कूल के निर्माण में भी अहम भूमिका निभाई बनमंखी (पूर्निया) में कन्या पाठशाला की स्थापना एवं भीनासर की जल वितरण पाईप लाईन के निर्माण हेतु आपने उदारता पूर्वक योगदान दिया । समाज कल्याण कार्यक्रमों जैसे मुरली मनोहर गौशाला, ओसवाल पंचायती भीनासर, भीनासर नागरिक परिषद में आपने सक्रिय भाग लिया । आप अमेरिकन आर्विट्रेशन एसोसिएशन, बं

चैम्बर ऑफ कामर्स एण्ड इण्डस्ट्रीज तथा पाकिस्तान जूट एसोसिएशन आदि में मध्यस्थ/सदस्य भी रहे हैं ।

आपके मार्गदर्शन व आपकी सूक्ष्म विलक्षणता से आपके परिवार ने कलकत्ता, मद्रास एवं बम्बई जैसे प्रमुख महानगरों में व्यवसाय को पर्याप्त विकसित किया है ।

श्री जवाहर विद्यापीठ भीनासर आपके उदारतापूर्वक सहयोग के लिए आभारी है और साधुवाद ज्ञापित करती है । पूरा विश्वास है कि आपका सहयोग भविष्य में भी मिलता रहेगा ।

श्री जवाहर किरणावलियों के लिए अर्थ सहयोग इकट्ठा करने में समाज-सेवी श्री खेमचन्द जी छल्लाणी (गंगाशहर) एवं श्री बाल चन्द जी सेठिया, भीनासर ने मुख्य भूमिका का निर्वहन किया है। अतः संस्था उनके प्रति हार्दिक आभार प्रकट करती है।

मुद्रण कार्य को यथाशीघ्र सम्पन्न करने हेतु स्वामी कम्प्यूटर्स, बीकानेर के प्रभारी एवं कर्मचारी भी धन्यवाद के पात्र है।

- निवेदक -

भंवरलाल कोठारी	**मेघराज बोथरा**
अध्यक्ष	मन्त्री

श्री जवाहर विद्यापीठ गंगाशहर-भीनासर
(बीकानेर)

1 : दो बहिनें–सम्पत्ति और विपत्ति

श्रीजिन मोहनगारों छे जीवन–प्राण हमारो छै ।

यह भगवान् अरिष्टनेमि की प्रार्थना है । भगवान् अरिष्टनेमि का चरित्र भारतीय साहित्य में अत्यन्त उच्चकोटि का है । ऐसा चरित्र दूसरा मेरे देखने में नहीं आया । यद्यपि भीष्म का चरित्र भी बहुत उज्जवल और आदर्श है लेकिन भगवान् अरिष्टनेमि के चरित्र के साथ उसकी समानता नहीं हो सकती । श्री अरिष्टनेमि का चरित्र कुछ असाधारण बोधदायक है । भीष्म ने पिता की सेवा के लिये ही ब्रह्मचर्य स्वीकार किया था लेकिन भगवान् अरिष्टनेमि ने पशु–पक्षियों की दया से प्रेरित होकर ब्रह्मचर्य अंगीकार किया था और यहां तक कि संसार का भी त्याग कर दिया था । भगवान् अरिष्टनेमि के चरित्र को भलीभांति देखा जाये और उस पर मनन किया जाये तो विदित होगा कि उन्होंने यादव कुल में जन्म लेकर कैसा असाधारण कार्य किया था ।

जिस समय भगवान् अरिष्टनेमि का जन्म हुआ, उस समय यादवों में महान् हिंसा फैली हुई थी । भगवान् अरिष्टनेमि ने उस हिंसा को मिटाने के लिए ब्रह्मचर्य अंगीकार किया और संसार का त्याग किया ।

महापुरुष मुंह से कुछ कहने की अपेक्षा अपने चरित्र के द्वारा ही जगत् के सामने आदर्श उपस्थित करना उचित

समझते हैं । जो बात वे दुनिया से मनवाना चाहते हैं उसे पहले अपने जीवन में उतारते हैं । उनके आदर्श जीवन से जगत् के जीव बोध पाकर कुमार्ग का त्याग करते हैं और नाना प्रकार की बुराइयों से बचकर शांति प्राप्त करते हैं ।

एक आदर्श ऐसा होता है जो दूसरों पर आजमाया जाता है और दूसरा ऐसा होता है जिसका प्रयोग पहले अपने ऊपर ही किया जाता है । जो महापुरुष आदर्श का प्रयोग अपने ही ऊपर करते हैं, उनके द्वारा प्रस्तुत किये गये आदर्श का जनता पर बहुत प्रभात पड़ता है । भगवान् अरिष्टनेमि ने देखा कि आजकल हिंसा बहुत फैल रही है । बात–बात में पशुओं को तलवार के घाट उतार दिया जाता है । पशुओं में भी हमारी ही तरह चेतना है । उन्हें भी हमारी ही तरह सुख–दुःख की अनुभूति होती है । पशु भी हमारी ही तरह दुःख से बचना चाहते हैं । मगर ऐसा समझा जाता है, मानो पशुओं में चेतना ही नहीं है और उनके प्राणों की कीमत ही नहीं है । अतएव हर्ष या शोक का कोई भी अवसर आया और पशुओं के प्राणों पर आ बनती है । इस प्रकार भगवान् अरिष्टनेमि ने उस समय की परिस्थिति पर गौर किया ।

कल मैंने कहा ही था जब विषय सुख की अभिलापा नहीं होती तभी अनुकम्पा होती है । इसके विपरीत विषय–सुख की तीव्र अभिलाषा होने पर मनुष्य सोचने लगता है कि चाहे कोई मरे या जीये, किसी का कुछ भी क्यों न हो, हमें विषय सुख प्राप्त होना चाहिये । इस प्रकार की मानसिक स्थिति में अनुकम्पा नहीं होती । उस समय यादवों की स्थिति ऐसी ही

पशु–पक्षियों की घोर हिंसा कर डालते थे । इस हिंसा को रोकने के लिए भगवान् ने विवाह का प्रपंच रचे जाने में बाधा नहीं पहुंचाई ।

कई लोग जैन धर्म का ठीक–ठीक स्वरूप नहीं समझते। अतएव वह सोचने लगते हैं कि सब जीव एकान्तत समान हैं। यह समझकर वे वनस्पति और पानी के छोटे जीवों की रक्षा करने में तत्पर हो जाते हैं मगर बड़े जीवों की की उपेक्षा कर देते हैं । वे केवल छोटे जीवों की ही रक्षा करने में धर्म की इतिश्री कर डालते हैं । ऐसे लोगों को भगवान् अरिष्टनेमि के चरित्र से शिक्षा लेनी चाहिये ।

भगवान् अरिष्टनेमि आरम्भ से ही तीन ज्ञानों के धनी थे वे इस बात को भली–भांति जानते थे कि अमुक वस्तु में जीव है और अमुक में कम जीव है या ज्यादा जीव है । फिर भी उन्होंने विवाह रचाना स्वीकार कर लिया था और जब विवाह संबंधी स्नान आदि की विधि की गई तो उन्होंने कुछ नहीं कहा । इसी प्रकार जब बारात सजाई गई और हाथी हौदे पर बैठ कर उग्रसेन के यहां तोरणद्वार पर जाने लगे तब भी कुछ नहीं बोले । लेकिन वहां पहुंच कर उन्होंने पशु–पक्षियों की रक्षा की । अब विचारना चाहिये कि क्या भगवान् को स्नान करने के पानी में जीव होने का ज्ञान नहीं था ? बारात के चलने से मार्ग के जीवों के मरने की बात उन्हें मालूम नहीं थीं? फिर क्या कारण है कि उन्होंने जल और मार्ग के जीवों की उपेक्षा करके तोरणद्वार के समीप के पशु–पक्षियों की रक्षा की ? तोरणद्वार के पास बाड़े में जो पशु–पक्षी बन्द किये गये थे, उनकी अपेक्षा स्नान के जल के जीवों की संख्या ज्यादा

थी और मार्ग के जीवों की भी संख्या ज्यादा थी । फिर किस कारण से भगवान् ने उन बहुसंख्यक जीवों की अपेक्षा इन पशु–पक्षियों की हिंसा को प्रधानता दी और इनकी रक्षा की ? भगवान् ने तो छोटे जीवों की अपेक्षा बड़े जीवों को महत्त्व दिया, लेकिन आजकल के कुछ लोग बड़े जीवों की अपेक्षा करके छोटे जीवों की रक्षा करने में ही अपने कर्त्तव्य की समाप्ति समझ बैठे हैं । छोटे कामों में ही कर्त्तव्य की समाप्ति मान ली जायेगी तो फिर बड़े काम करने की शक्ति कहां से आयेगी ? बड़े कामों की उपेक्षा करके छोटे कामों में ही लगे रहना बुद्धिमानी नहीं हैं । अगर बड़े काम की उपेक्षा करके छोटे काम करना ही उचित होता तो भगवान् ने स्नान करके जल के जीवों की हिंसा की उपेक्षा करके बाड़े के जीवों की हिंसा क्यों बचाई ? भगवान् को एक बड़ा आदर्श कार्य करना था । अतएव उन्होने वह हिंसा तो होने दी और उग्रसेन के हां तोरणद्वार पर आकर सारथी से कहा–सारथी, इन सुख अभिलाषी जीवों को क्यों रोक रखा है ? और ये कुहराम क्यों मचा रहे हैं ?

भगवान् सभी कुछ जानते थे लेकिन जगत् के जीवों के सामने सारी बात स्पष्ट करने के उद्देश्य से उन्होंने सारथी से यह प्रश्न किया । सारथी स्पष्ट वक्ता था । उसने भगवान् से साफ कह दिया –

अह सारही तओ भणइ एए भद्दा उ पाणिणो ।
तुज्झ विवाहकज्जम्मि भोयावेउ बहुजणं ।

सारथी भगवान् से कहता है–यह पशु–पक्षी किसी और

प्रयोजन से नहीं लाये गये हैं किन्तु आपके विवाह के लिए ही लाये गये हैं । आपके विवाह में इनकी दावत दी जायेगी ।

भगवान् जगत् की रक्षा करने के लिये जन्मे थे और वे उन जीवों की हिंसा भी नहीं कर रहे थे । अतएव वे सोच सकते थे कि जो करेगा सो भोगेगा । इन प्राणियों के मारे जाने का अपराध मेरे सिर नहीं हो सकता । मगर परमदयालु भगवान् ने ऐसा नहीं सोचा । उन्होंने विचार किया कि मेरा विवाह न हो तो यह प्राणी क्यों मारे जाएं !

इस प्रकार विचार कर भगवान् ने सारथी से कहा – यह हिंसा मेरे लिये श्रेयस्कर नहीं है । इसलिये तू जाकर इन पशु–पक्षियों को बंधन–मुक्त कर दे ।

सारथी भगवान् की आज्ञा पाते ही चल दिया और बाड़े में बंद पशुओं को मुक्त करके लौट आया । भगवान् ने संतुष्ट हो–कर अपने शरीर के समस्त आभूषण, मुकुट को छोड़कर सारथी को दे दिये ।

सारथी ने कौन सा बड़ा काम किया था कि भगवान् ने मुकुट के सिवाय और सब आभूषण उतार कर उसे दे दिये ? भगवान् के शरीर पर जो आभूषण होंगे वे साधारण तो नहीं रहे होंगे ! वे महामहिम यादव कुल के राजकुमार थे और फिर दूल्हा बने हुए थे । निस्संदेह उनके शरीर पर उत्तम से उत्तम आभूषण रहे होंगे । लेकिन आभूषणों का मूल्य आंकने और काम का हिसाब लगाने की फुर्सत किसे थी ? भगवान् सोचते थे कि सारथी ने मेरी आज्ञा मान–कर प्राणियों को मुक्त कर

दिया है इसने दूसरे की अपेक्षा नहीं रक्खी । इसमें साहस है। साहस के कारण ही इसने ऐसा किया है । नहीं तो जिन जानवरों को राजा उग्रसेन ने बंद करवा रखा था, उन्हें छोड़ देने की हिम्मत कौन कर सकता था ? इस प्रकार अपनी आज्ञा के पालन से संतुष्ट होकर भगवान् ने अपने समस्त आभूषण सारथी को दे दिये । केवल एक मुकुट रहने दिया क्योंकि मुकुट राज चिह्न माना जाता है और वह सारथी के पास रहने न दिया जाता । इस सिलसिले में शास्त्र में कहा:–

सो कुण्डलाण जुयलं सुतगं च महायसो ।
आभरणाणि य सव्वाणि सारहिस्स पणामए ।।

भगवान् ने मुकुट के सिवाय दोनों कुण्डल, कटिसूत्र तथा और सब आभूषण सारथी को दे दिये । भगवान् ने तनिक भी विचार नहीं किया कि मैं किस काम के बदले क्या दे रहा हूं ! इस घटना से भगवान् की उदारता और निस्पृहता का पता लगता है । भगवान् की यह कैसी निरीहता है ! धर्म की रक्षा उदारता और निस्पृहता से ही होती है । जो लोग पानी पीकर पेशाब तोलते हैं वे धर्म की रक्षा कैसे कर सकते हैं ?

ठाणांगसूत्र में कहा है कि धर्म की जिन पांच कारणों से रक्षा होती है, उनमें एक राजा भी है । राजा की सहायता के बिना अहिंसाधर्म का पालन नहीं किया जा सकता । संसार में क्षुद्र मनुष्य भरे पड़े हैं । राजा न हो तो वे धर्म पालन में बहुत बाधा डालें और सर्वसाधारण के जीवन में कठिनाई पैदा कर दें । गीता में कहा है –

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।

अर्थात् – श्रेष्ठ पुरुष जैसा आचरण करते हैं, दूसरे लोग भा वैसा ही आचरण करते हैं । महापुरुष माने जाने वाले लोग जो बात स्वीकार कर लेते हैं, दूसरे लोग भी सरलता से स्वयं ही वह बात अंशीकार कर लेते हैं । इस प्रकार जो काम हमारे उपदेश से नहीं होता वह महापुरुष के आचरण से अनायास ही हो जाता है । सब के लिये कहा गया है :–

महाजनो येन गतः स पन्थाः ।

यानी सब तरह के वाद–विवाद को दूर करके उसी मार्ग पर चलो जिस पर महापुरुष चले हैं । इस प्रकार महापुरुष माने जाने वालों पर ज्यादा जिम्मेदारी है । उन्हें सदा इस बात का ध्यान रखना पड़ता है कि मैं किसी मार्ग पर चल रहा हूं और मुझे किस मार्ग पर चलना चाहिये ? राजा की गणना भी महापुरुषों में है । इस कारण राजा को भी ध्यान रखना चाहिये कि मैं कैसे काम कर रहा हूं और मुझे कैसे काम करने चाहिये ?

भगवान् अरिष्टनेमि राजपुरुष थे । वे महाराज समुद्रविजय के पुत्र थे । माता–पिता ने उनसे विवाह करने का बहुत आग्रह किया, मगर वे यही कहते रहे कि समय आने पर सब कुछ हो जायेगा । भगवान् के लिये यह अवसर आया और विवाह रचाकर उन्हें पशु–पक्षियों की रक्षा की और सब आभूषण सारथी को सौंप दिये । इस प्रकार की उदारता राजपुरुष में ही होती है और इसलिये यह कहा जाता है कि

राजा की सहायता के बिना धर्म पंगु होता है ।

भगवान् ने उन जीवों को बन्धनमुक्त करवा दिया था । अतएव उसके बाद विवाह करने में किसी प्रकार का हर्ज नहीं माना जा सकता था । लेकिन भगवान् को दृष्टि में तो विवाह करने में हर्ज था । भगवान् ने विचार किया कि ब्रह्मचर्य के बिना काम नहीं चल सकता । लोगों के सामने अहिंसा के साथ ब्रह्मचर्य का भी आदर्श मुझे रखना है । इसके लिये मुझे स्वयं ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिये । ऐसा किये बिना लोगों पर प्रभाव नहीं पड़ सकता ।

सुना है, किसी बाई का लड़का गुड़–शक्कर ज्यादा खाया करता था । उस बाई ने लड़के को बहुत रोका, मगर लड़का नहीं माना । गुड़–शक्कर ज्यादा खाने के कारण लड़के के शरीर में बीमारी फूट निकली । माता ने सोचा– लड़का मेरा कहना तो मानता नहीं है; शिक्षक से कहना चाहिये यह सोच–कर वह लड़के के शिक्षक के पास गई । उसने कहा–आप लड़कों को अक्षरज्ञान ही सिखलाते हैं या चारित्र तथा स्वास्थ्यरक्षा आदि की बातें भी बतलाते हैं ? शिक्षक के पूछने पर वह बाई फिर बोली–मेरा लड़का गुड़–शक्कर बहुत खाता है, इस कारण इसके शरीर में बीमारी फूट निकली है । बीमारी होने पर भी यह गुड़–शक्कर खाना नहीं छोड़ता । बाई की बात सुनकर शिक्षक ने कहा–अच्छा, आज तो अवसर नहीं है । कल इसे लेकर आ जाना ।

के पास गई । गुड़ और शक्कर अधिक खाने से क्या–क्या हानियाँ होती है, यह सब बातें शिक्षक ने उस लड़के को भली–भांति समझाई । लड़के ने प्रतिज्ञा की–मैं माता को आज्ञा लिये बिना कभी गुड़ नहीं खाऊंगा ।

वह बाई शिक्षक से कहने लगी–आपने जो काम आज किया है, वह कल ही कर सकते थे । फिर कल अवसर न होने की बात किस मतलब से कही थी ? शिक्षक ने उत्तर दिया–मैंने स्वयं गुड़ खाया था । जब मेरे ही पेट में गुड़ था तो इस बालक को उसके त्यागने का उपदेश कैसे दे सकता था ? जब मैंने स्वयं गुड़ खाना छोड़ दिया तभी इसे त्यागने का उपदेश दिया है । स्वयं आचरण न करके दिये गये उपदेश का प्रभाव नहीं पड़ता ।

इस कथा के आधार पर आप अपने सम्बन्ध में विचार करें । आपसे प्रश्न किया जाये कि आपको कैसी पत्नी चाहिए? तो आप सीता जैसी पत्नी की इच्छा करेंगे । किन्तु कभी राम जैसे बनने की इच्छा करते हैं ? आप राम जैसे बनना नहीं चाहते तो पत्नी सीता जैसी कैसे चाहते हो ?

तात्पर्य यह है कि जो दूसरे को तो उपदेश देता है लेकिन स्वयं उस उपदेश के विरुद्ध चलता है, उसके उपदेश का जनता पर प्रभाव नहीं पड़ता ।

शास्त्र में भगवान् से प्रश्न किया गया कि आपके धर्म का उपदेश कौन दे सकता है ? भगवान ने इस प्रश्न का यह उत्तर दिया –

आयगुत्ते सया देते छिन्नसोए अणासवे ।
ते धम्मं सुद्धमाक्खंति पडिपुण्णमणेलिसं ।

अर्थात्–मेरे धर्म का उपदेश वही दे सकता है जो आत्मा को गुप्त रखता हो । जिसकी आत्मा मेरे धर्म में तन्मय हो गई हो । जो दूसरों को किसी काम को छोड़ने के लिये कहता है और स्वयं वही काम करता है, उसका उपदेश केवल ढोंग है । अतएव जो स्वयं अपने उपदेश के अनुसार चलता हो, त्यागी हो, अहिंसक हो, सत्यवादी हो, अस्तेयव्रती हो, ब्रह्मचारी हो और माया–ममता से रहित हो वही मेरे धर्म का उपदेश देने का पूर्ण अधिकारी है ।

हिन्दू धर्म के विषय में गांधीजी ने एक लेख लिखा था। उसमें उन्होंने लिखा था कि हिन्दू धर्म का उपदेश शंकराचार्य या विद्वान नहीं दे सकते हैं किन्तु वही दे सकता है–वही हिन्दू धर्म का सच्चा स्वरूप बतला सकता है जो अहिंसा, सत्य अस्तेय, ब्रह्मचर्य का पालन करता हो और निष्परिग्रह हो। भगवान् महावीर ने जो कुछ कहा वही सीखकर तो गांधीजी ने यह लिखा ही नहीं है । भगवान् महावीर आज से करीब अढ़ाई हजार वर्ष पहले जो बात कह गये हैं, उसकी वास्तविकता आज भी स्वीकार की जाती है ।

तात्पर्य यह है कि उपदेश देने वाले को चाहिये कि वह पहले अपने आपको अपने उपदेश के अनुरूप बनावे । उसके वाद ही उसका उपदेश प्रभावजनक होगा । स्वयं आचरण न करके सिर्फ दूसरों को उपदेश देने वाले उस चाटू के समान है जो दाल–शाक आदि में डूबे रहकर भी किसी चीज का

स्वाद नहीं जानते । अतएव भगवान् अरिष्टनेमि ने सोचा—मैं दूसरों को ब्रह्मचर्य का उपदेश दूं और स्वयं विवाह करूं तो मेरे उपदेश का क्या मूल्य होगा । इस प्रकार जनता के सामने जीता—जागता उदाहरण रखने के लिए भगवान् तोरण द्वार तक पहुंचकर लौट आये ।

जिस समय दुल्हा बिना विवाह किये लौट रहा हो उस समय बरातियों को कितना खेद होता होगा ? और बाराती भी साधारण मनुष्य नहीं थे । समुद्रविजय और कृष्ण जेसे प्रतिष्ठित राजपुरुषों को उस समय जो खेद हुआ होगा उसकी कल्पना करना भी कठिन है । उन्होंने भगवान् से कहा—आपने जीवों को बन्धन मुक्त कर दिया सो ठीक है । सारथी को आभूषण दे दिये सो भी ठीक है । लेकिन विवाह किये बिना ही आप वापिस लौट रहे हैं यह बड़ा अनुचित है । ऐसा करने से हमारी प्रतिष्ठा में धब्बा लगता है । आप और जीव छुड़ा सकते हैं । चाहें तो और भी पुरस्कार दे सकते हैं । मगर विवाह किये बिना लौटना उचित नहीं है ।

कृष्ण जैसे महापुरुष भी भगवान् से विवाह किये बिना न लौटने का आग्रह कर रहे थे । ऐसी स्थिति में भगवान् को क्या करना चाहिए था ? उन्हें सबका कहना मान लेना चाहिये या हठ करना चाहिये ? एक और वे सब लोग भगवान् से रुकने के लिए आग्रह कर रहे थे और दूसरी ओर भगवान् यह सोच रहे थे कि मुझे परिमित दया ही नहीं करनी चाहिए किन्तु संसार में अहिंसा का प्रचार करना चाहिए । प्रत्येक काम के लिए क्रियात्मक आदर्श की आवश्यकता है । इसके

बिना यथोचित कार्य नहीं होता । ऐसो दशा में मैं कैसे रुक सकता हूं ? रोकने वालों को मरे उद्देश्य का पता नहीं है । इसी कारण से मुझे रोकते हैं और कहते हैं कि इस प्रकार लौट जाने से हमारा अपमान होगा । किन्तु मैं किसी दूसरी कन्या से विवाह करने जाता तो ये अपना अपमान समझ सकते थे । मगर में तो संसार ही त्यागना चाहता हूं । त्याग के बिना लोगों पर उपदेश का प्रभाव नहीं पड़ता । आज इन्हें मेरा जाना बुरा लगता है लेकिन जब मैं त्याग करूंगा तब मेरे उपदेश का प्रभाव इन पर भी पड़ेगा ।

कोई कार्य स्वार्थ के लिए किया जाता है और कोई परमार्थ के लिए । भगवान् की जीवनी से यह शिक्षा मिलती हैं कि चाहे स्वार्थ के लिए किए जाने वाले कार्य को दूसरों के आग्रह से रोक दिया जाये पर परमार्थ के कार्य को नहीं रोकना चाहिये ।

भगवान् सोचते थे—ये लोग अपनी ही बात रखना चाहते हैं किन्तु मैं सारे संसार की बात रखना चाहता हूं । मैं किसी भी जीव की बात खोना नहीं चाहता । इस प्रकार विचार कर भगवान् ने कृष्ण आदि सबको समझाया । भगवान् ने उन सब को किन शब्दों में समझाया था, यह तो नहीं कहा जा सकता, लेकिन शायद यह कहा होगा मैं हठ नहीं करता हूं । मगर दीन जीवों की दया मुझे अपनी ओर खींच रही है। ऐसी स्थिति में मुझे किस ओर जाना चाहिये ?

संसार में बड़े लोगों पर दया तो सभी करते हैं लेकिन गरीबों पर—जिनका कोई स्वामी नहीं है, दया करने वाले

प्रभावित हुए । अन्त में सबने कहा–तो भले पधारो । जैसी आपकी इच्छा ।

भगवान् हाथी लौटा कर घर पहुंचे । घर पहुंच कर उन्होंने एक वर्ष तक गरीबों को यथेष्ट दान दिया । दान देने के पश्चात् दीक्षा ग्रहण की । उस समय कृष्ण ने उनसे कहा–

वासुदेवो य णं भणइ लुत्तकेसं जिइंदियं ।
इच्छिय मणोरहं तुरियं पावसु तं दमीसर ।।

अर्थात्–हे इन्द्रियों का दमन करने वाले ! मैं चाहता हूं कि आपका मनोरथ पूर्ण हो ।

इस प्रकार दीक्षा लेकर भगवान् दीन–दुखियों पर दया करने का उपदेश देने लगे । अगर राजा और प्रजा मिलकर इस प्रकार सम्मिलित रूप से गरीबों के उद्धार का कार्य करे तो बहुत उद्धार हो सकता है । मोरवी के महाराजा उदार और दीन–दुःखनिवारक है । कई राजाओं से मिलने का मुझे अवसर मिला है, लेकिन जैसी उदारता आप में सुनी है, वह प्रशंसनीय है । आप लोगों को ऐसा दयालु राजा मिला है तो उसका सहयोग लेकर कोई सार्वजनिक हित का विशिष्ट कार्य करना उचित है । गीता में कहा है –

मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत !

अर्थात् – हे पार्थ ! तू दैवी सम्पदा भोगने वाला है । इसी प्रकार आपके महाराजा भी दैवी सम्पदा भोगने वाले हैं–ऐसे राजा मिलने पर भी अगर इस राज्य में 'अमर–पहेड़ा'

(हिंसानिषेध का पटह) न बजा तो कब बजेगा ? महाराजा के द्वारा होने वाले शुभ कार्यों के यज्ञ में आप लोग भी कुछ भाग लें तो आपको भी लाभ होगा, इन महाराज साहब को भी प्रोत्साहन मिलेगा और दुखियों का दुःख मिट जायेगा । जब जनता गरीबों के हित के कार्यों में हाथ बंटाने लगेगी तो इन्हें भी यही विचार आएगा कि यदि मैं ऐसे कार्यों मैं अपना सम्पत्ति न लगाऊंगा तो फिर किन–किन कामों में लगाऊंगा? मोरवी काठियावाड़ में एक विशिष्ट राज्य है । यह विशिष्टता स्वार्थ की ओर न खींचे तो बहुत काम हो सकता है ।

भगवान् अरिष्टनेमि ने दीक्षा ली । यह समाचार सुनकर राजीमती को ऐसा आघात लगा कि वह यह सोचती हुई मूर्छित हो गई कि जब राजकुमार द्वार से लौट कर चले गये, उस समय से मुझे आशा थी कि एक बार तो वह आएंगे ही! वे मुझे संतुष्ट करके ही दीक्षा लेंगे । मगर उन्होंने मुझसे मिले बिना ही दीक्षा ले ली ! यह मेरा अपमान है । इस प्रकार के विचार से राजमती बेहोश हो गई । तब राजीमती की सखी ने उसे होश में लाकर कहा–तुम शोक और विशाद क्यों करती हो ! राजकुमार का दीक्षित हो जाना तो तुम्हारे लिये आनन्द की बात है ! अब किसी दूसरे राजकुमार के साथ तुम्हारा विवाह हो सकेगा । अब उसकी आशा तो न रही ! यह अच्छा ही हुआ । वे जैसे तन से काले हैं वैसे ही मन से भी काले हैं । राजकुमारी जो हुआ, अच्छा ही हुआ । अब निश्चिन्त हो जाओ ।

सखी की बात सुनकर राजीमती ने कहा–सखी, र रहो । ऐसा मत कहो । मैं उनकी निन्दा सहन नहीं

सकती । वे शरीर से काले दिखाई देते हैं, इस कारण तुम उनकी उपेक्षा कर रही हो लेकिन मेरी दृष्टि में उनका बहुत महत्व है । काले होने कारण वह उपेक्षणीय नहीं हो सकते । मगर कालापन बुरा है तो आंखों की काली–काली पुतलियों को निकाल कर क्यों नहीं फेंक देती ? सखी, तुम महापुरुषों के चरित्र की गहनता को नहीं समझ सकतीं । जो विषय भोग के कीड़े बने हुए हैं वे उनके पवित्र ओर उच्च चरित्र के महत्व को क्या समझें ? अतएव तुम चुप ही रहो ।

सखी–ऐसा है तो फिर उदास क्यों हो ?

राजीमती–मेरी उदासी का कारण यह है कि पति तो चले गये और मैं घर में ही रहूं । राजीमती का त्याग कितना उज्ज्वल है ! इसीलिये कहा जाता है –

न होते नेम राजीमती तो क्या गाते जैन के जती ।

राजीमती कहती है–सखी, प्रभु मुझे जागृत करने के लिये ही आये थे । वे मेरे साथ दगा करने नहीं आये थे । अगर वे यहां से जाकर किसी दूसरी कन्या के साथ विवाह कर लेते तो दगा समझा जा सकता था । उन्हें क्या दूसरी कन्या नहीं मिल सकती थी ? महाराज समुद्र–विजय की पुत्रवधू कौन नहीं बनना चाहेगी ! लेकिन उन्हें तो विवाह हो नहीं करना था । वे मुझे बोघ देने के लिये ही यहां तक आये थे । उनका बोध मुझ तक पहुंच गया है उसकी अव्यक्त वाणी मेरे कानों में गुंज रही है । वे कह रहे हैं– "मैं जिस मार्ग पर जा रहा हूँ, उसी मार्ग पर तू भी आ ।"

सकती । वे शरीर से काले दिखाई देते हैं, इस कारण तुम उनकी उपेक्षा कर रही हो लेकिन मेरी दृष्टि में उनका बहुत महत्व है । काले होने कारण वह उपेक्षणीय नहीं हो सकते । मगर कालापन बुरा है तो आंखों की काली–काली पुतलियों को निकाल कर क्यों नहीं फेंक देती ? सखी, तुम महापुरुषों के चरित्र की गहनता को नहीं समझ सकतीं । जो विषय भोग के कीड़े बने हुए हैं वे उनके पवित्र ओर उच्च चरित्र के महत्व को क्या समझें ? अतएव तुम चुप ही रहो ।

सखी–ऐसा है तो फिर उदास क्यों हो ?

राजीमती–मेरी उदासी का कारण यह है कि पति तो चले गये और मैं घर में ही रहूं । राजीमती का त्याग कितना उज्ज्वल है ! इसीलिये कहा जाता है –

न होते नेम राजीमती तो क्या गाते जैन के जर्ती ।

राजीमती कहती है–सखी, प्रभु मुझे जागृत करने के लिये ही आये थे । वे मेरे साथ दगा करने नहीं आये थे । अगर वे यहां से जाकर किसी दूसरी कन्या के साथ विवाह कर लेते तो दगा समझा जा सकता था । उन्हें क्या दूसरी कन्या नहीं मिल सकती थी ? महाराज समुद्र–विजय की पुत्रवधू कौन नहीं बनना चाहेगी ! लेकिन उन्हें तो विवाह हो नहीं करना था । वे मुझे बोघ देने के लिये ही यहां तक आये थे । उनका बोध मुझ तक पहुंच गया है उसकी अव्यक्त वाणी मेरे कानों में गुंज रही है । वे कह रहे हैं– "मैं जिस मार्ग पर जा रहा हूँ, उसी मार्ग पर तू भी आ ।"

मित्रों ! भगवान् अरिष्टनेमि ने पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन किया था तो आप लोग कम से कम अपूर्ण ब्रह्मचर्य का तो पालन करो ! यह तो कहो कि–परस्त्री माता । महाराजा यहीं बैठे हैं । आपका प्रतिज्ञा पर इनकी भी साक्षी हो जायेगी।

परस्त्री को माता बनाने में एक बड़ा रहस्य है । जब आप परस्त्री को माता मानेंगे तो माता का पुत्र भाई ही होगा। इस प्रकार आपकी बंधु भावना का सहज ही विकास होगा । आप दूसरों के सुख–दुःख को भाई के नाते सुख–दुःख समझने लगेंगे । दीन दुखियों की तरफ आपका स्नेह दौड़ेगा। फिर आप उनका दुःख दूर करने में लग जाएंगे और ऐसा करके अपने जीवन को सफल बना सकेंगे । दीनों को भाई मानने पर उनका दुःख मिटाने के लिये किस प्रकार उत्सुकता रहती हैं, यह बात मैं राजा भोज के समय की एक घटना का उल्लेख करके बतलाना चाहता हूं ।

राजा भोज अपनी सभा में बैठा हुआ पंडितों के साथ विनोद की बातें कर रहा था । उसके द्वार पर एक पंडित आया । वह पंडित शरीर से दुर्बल था । उसके बाल रूखे थे। मस्तक पर लम्बी–सी चोटी फहरा रही थी । द्वार पर आकर उसने पहरेदार से कहा–मैं महाराज भोज से मिलना चाहता हूं ।

पहरेदार ने व्यंगपूर्वक कहा–महाराज की और काम ही क्या है ! वह तो तुम जैसों से मिलने के लिये ही बैठे हैं न! दिन भर में तुम सरीखे सैकड़ों आते हैं । महाराज किस–किस से मिलें ?

पण्डित–तू आज नहीं मिलने देगा तो मैं कल या दो दिन के बाद मिल लूंगा । लेकिन ऐसा न हो कि मेरा कोई अहित हो जाय ! तू जा कर राजा से कह दे कि आपके भाई आये हैं । यदि वह मुझे अपना भाई बतलाएं तो तुम मुझे ले चलना । नहीं तो मत ले चलना ।

पहरेदार को यह बात पसन्द आई उसने जाकर राजा से कहा–एक पुरुष द्वार पर खड़ा है । वह अपने को आपका भाई बतलाता है और आपसे मिलना चाहता है ।

राजा भोज कुछ विचारने लगा । थोड़ी देर बाद मानो कोई भूली बात याद आ गई हो, राजा ने कहा–हां मेरा एक भाई है । वही शायद आया होगा । तू जा और उसे लिवा ला।

सिपाही उल्टे पैरों लौटा । उसने आगत पुरुष से कहा–आप भीतर पधारिये और मेरा अपराध क्षमा कीजिये । अन्जान में मुझसे भूल हो गई ।

पण्डित–कोई बात नहीं है । यह तो तुम्हारा कर्त्तव्य ही है।

यह कहकर पण्डित द्वारपाल के साथ राजा के पास गया । पंडित को देखते ही राजा ने खड़े होकर उसका स्वागत किया । राजा के साथ सभासदों को भी उठना ही पड़ता है । वह मन ही मन कहने लगे–यह कौन आया है ?

राजा ने उसे अपने साथ सिंहासन पर बिठाया ।

सभासद सोचने लगे—चन्द्र के साथ राहु के समान यह सिंहासन पर कौन बैठ गया हैं ?

सिंहासन पर बैठ कर राजा ने प्रश्न किया—कहो, मौसीजी सकुशल है ?

पण्डित—हां, अब तक तो सकुशल थीं पर आपका दर्शन होते ही वह मर गई हैं ।

राजा—मरना—जीना तो प्रकृति का अटल नियम है । वह किसी के हाथ की बात नहीं है । लेकिन उनका अंतिम संस्कार अच्छी तरह करना ।

पण्डित—मेरी दशा आप देख ही रहे हैं । मैं अपनी स्थिति के अनुसार अंतिम संस्कार करूंगा ही । पहनी हुई इस धोती में से आधी फाड़कर उसके शव पर डाल दूंगा । इससे अधिक और क्या कर सकता हूं ?

राजा—नहीं जी, ऐसा क्यों ? अपनी मोसी के अंतिम संस्कार के लिये मैं तुम्हें सहायता दूंगा ।

पण्डित—आप सहायता देंगे तो उसी के अनुसार क्रियाकर्म कर दूंगा ।

राजा ने भण्डारी को एक हजार मोहरें निकाल कर दे देने की आज्ञा दी । भण्डारी यह आज्ञा सुनकर आश्चर्य में पड़ गया । राजा ने उससे कहा—मेरी मौसी का अंतिम संस्कार करना है । इसलिये मेरे नाम लिख कर दे दो ।

राजा की आज्ञा के अनुसार भंडारी ने हजार मोहरें गिन

दीं। ब्राह्मण पण्डित हजार मोहरें लेकर बाहर निकला उसने पहरेदार को भी कुछ दिया । कई लोग राजसम्मान पाकर दूसरे का अहित करने में ही अपना बड़प्पन मानते हैं । लेकिन ब्राह्मण पंडित ने पहरेदार का अहित नहीं किया । बल्कि उसे कुछ देकर संतुष्ट कर लिया और अपने घर चला गया ।

ब्राह्मण के चले जाने के बाद एक सभासद ने साहस करके पूछा–आपके यह भाई कहां रहते हैं ? कौन सी मौसी की बात अभी हो रही थी ? यह पहले तो कभी मिले नहीं ।

राजा–वह मेरा ही नहीं, तुम लोगों का भी भाई है लेकिन तुम्हारी आंखें फिरी हुई है । इसी कारण तुम उसे नहीं पहचान सके । पहले इस बात पर विचार करो कि मैं किसका पुत्र हूं ? तुम मुझे किसी और का पुत्र बताओगे लेकिन मैं सम्पत्ति का पुत्र हूं । और सम्पत्ति की बहिन हैं विपत्ति । यह जो अभी आया ना सो विपत्ति का पुत्र है । तुमने देखा ही है कि उसका शरीर कितना कृश था । बाल कितने रुखे थे । इससे ज्यादा विपत्ति और क्या हो सकी हैं ! मैं सम्पत्ति पुत्र हूं और वह विपत्तिपुत्र है । सम्पत्ति और विपत्ति बहिनें है । इस कारण वह मेरा भाई हुआ । एक सभापद ने पूछा–आपके दर्शन होते ही मौसीजी मर गई इसका क्या मतलब ? राजा ने कहा–मेरे दर्शन से ब्राह्मण की विपत्ति दूर हो गई–मौसी मर गई । सज्जन पुरुष वही है जो सम्पत्ति पाकर विपत्ति को भूल न जाए । रामचन्द्र सम्पत्तिशाली थे फिर भी उन्हें विपत्ति ने घेर लिया और वनवास करने के लिए विवश किया ।

हरिश्चन्द्र को भी भंगी की चाकरी करनी पड़ी । जब राम और हरिश्चन्द्र जैसे महापुरुषों पर भी विपत्ति आ सकती है तो क्या अपने ऊपर नहीं आ सकती थी ? इस कारण सम्पत्ति बहिन विपत्ति को भूल जाना उचित नहीं । वह सम्पत्ति की बहिन विपत्ति का लड़का होने के कारण मेरा भाई था और मेरी तरह तुम लोगों का भी भाई था । मगर तुमने उसे पहचाना नहीं । मैं पहचान गया ।

राजा भोज का यह स्पष्टीकरण सुनकर सब लोग अत्यन्त आनन्दित हुए । राजा की विवेकशीलता और उदारता से उन्होंने शिक्षा ग्रहण की ।

आज राजा भोज यहां मौजूद नहीं है पर मौरवी के महाराज और आप लोग है । आप इस उदाहरण से अगर कुछ सबक सीखते हों तो सीख लीजिए आप विचार कीजिये कि–गरीब लोग दुःख पा रहे हैं और आपमें उनका दुःख दूर करने की शक्ति है । फिर भी अगर आप उनका दुःख नहीं मिटाते–सम्पत्ति में भी उनकी सहायता नहीं करते तो क्या विपत्ति के समय सहायता करेंगे ? इस प्रकार का विचार करके सम्पत्ति द्वारा गरीबों की विपत्ति मिटाओं । अगर आपने गरीबों का दुःख–दर्द दूर करने को ओर ध्यान दिया तो बढ़ते–बढ़ते सुबाहुकुमार को स्थिति प्राप्त कर सकते हो । कहा भी है –

परोपकाराय सत्तां विभूतयः ।

मैं महाराजा से भी पूछना चाहता हूं कि आप सम्पत्ति के पुत्र है लेकिन अपने भाई विपत्ति के पुत्र को कभी याद करते

दीं। ब्राह्मण पण्डित हजार मोहरें लेकर बाहर निकला उसने पहरेदार को भी कुछ दिया । कई लोग राजसम्मान पाकर दूसरे का अहित करने में ही अपना बड़प्पन मानते हैं । लेकिन ब्राह्मण पंडित ने पहरेदार का अहित नहीं किया । बल्कि उसे कुछ देकर संतुष्ट कर लिया और अपने घर चला गया ।

ब्राह्मण के चले जाने के बाद एक सभासद ने साहस करके पूछा—आपके यह भाई कहां रहते हैं ? कौन सी मौसी की बात अभी हो रही थी ? यह पहले तो कभी मिले नहीं ।

राजा—वह मेरा ही नहीं, तुम लोगों का भी भाई है लेकिन तुम्हारी आंखें फिरी हुई है । इसी कारण तुम उसे नहीं पहचान सके । पहले इस बात पर विचार करो कि मैं किसका पुत्र हूं ? तुम मुझे किसी और का पुत्र बताओगे लेकिन मैं सम्पत्ति का पुत्र हूं । और सम्पत्ति की बहिन हैं विपत्ति । यह जो अभी आया ना सो विपत्ति का पुत्र है । तुमने देखा ही है कि उसका शरीर कितना कृश था । बाल कितने रुखे थे । इससे ज्यादा विपत्ति और क्या हो सकी हैं ! मैं सम्पत्ति पुत्र हूं और वह विपत्तिपुत्र है । सम्पत्ति और विपत्ति बहिनें है । इस कारण वह मेरा भाई हुआ । एक सभापद ने पूछा—आपके दर्शन होते ही मौसीजी मर गई इसका क्या मतलब ? राजा ने कहा—मेरे दर्शन से ब्राह्मण की विपत्ति दूर हो गई—मौसी मर गई । सज्जन पुरुष वही है जो सम्पत्ति पाकर विपत्ति को भूल न जाए । रामचन्द्र सम्पत्तिशाली थे फिर भी उन्हें विपत्ति ने घेर लिया और वनवास करने के लिए विवश किया ।

हरिश्चन्द्र को भी भंगी की चाकरी करनी पड़ी । जब राम और हरिश्चन्द्र जैसे महापुरुषों पर भी विपत्ति आ सकती है तो क्या अपने ऊपर नहीं आ सकती थी ? इस कारण सम्पत्ति बहिन विपत्ति को भूल जाना उचित नहीं । वह सम्पत्ति की बहिन विपत्ति का लड़का होने के कारण मेरा भाई था और मेरी तरह तुम लोगों का भी भाई था । मगर तुमने उसे पहचाना नहीं । मैं पहचान गया ।

राजा भोज का यह स्पष्टीकरण सुनकर सब लोग अत्यन्त आनन्दित हुए । राजा की विवेकशीलता और उदारता से उन्होंने शिक्षा ग्रहण की ।

आज राजा भोज यहां मौजूद नहीं है पर मौरवी के महाराज और आप लोग है । आप इस उदाहरण से अगर कुछ सबक सीखते हों तो सीख लीजिए आप विचार कीजिये कि–गरीब लोग दुःख पा रहे हैं और आपमें उनका दुःख दूर करने की शक्ति है । फिर भी अगर आप उनका दुःख नहीं मिटाते–सम्पत्ति में भी उनकी सहायता नहीं करते तो क्या विपत्ति के समय सहायता करेंगे ? इस प्रकार का विचार करके सम्पत्ति द्वारा गरीबों की विपत्ति मिटाओं । अगर आपने गरीबों का दुःख–दर्द दूर करने को ओर ध्यान दिया तो बढ़ते–बढ़ते सुबाहुकुमार को स्थिति प्राप्त कर सकते हो । कहा भी है –

परोपकाराय सत्तां विभूतयः ।

मैं महाराजा से भी पूछना चाहता हूं कि आप सम्पत्ति के पुत्र है लेकिन अपने भाई विपत्ति के [illegible]

हैं या नहीं ? गरीबों की सेव–सहायता करने में ही सम्पत्ति की सार्थकता है । अतएव क्या महाराजा, क्या दूसरे लोग, सभी गरीबों को याद रखें । तुलसीदासजी ने ठीक ही कहा है –

दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान ।
तुलसी दया न छोड़िये, जब लग घट में प्रान ।

अगर आप सम्पत्ति को दीन–हीन जनों की सहायता में लायेंगे तो वह सम्पत्ति आपकी चिर सहचरी बन जायेगी । आप मानव–जीवन को और सम्पत्ति को सफल बना सकेंगे और अपना कल्याण साध सकेंगे ।

---

2 : हृदयबल और मस्तिष्कबल

जय जय जिन त्रिभुवन धणी ।

यह भगवान् शीतलनाथजी को प्रार्थना है । आत्मा परमात्मा को पहचान कर कहता है कि, हे प्रभो ! तेरा जय–जय कार हो, क्योंकि तू त्रिभुवन का नाथ है और जिन है । इसलिए तेरी जय हो ! जय हो !

भगवान् शीतलनाथ जिन होने के कारण त्रिभुवन के नाथ हुए और त्रिभुवन के नाथ होने के कारण ही उनकी जय बोली जाती है । इस बात पर अगर भलीभांति विचार किया जाये तो आत्मा को बहुत बोध मिल सकता है । बहिरात्मा मनुष्य विचार करता है कि मैं अपनी शारीरिक शक्ति के द्वारा सारे संसार को अपने अधीन कर लूंगा । यह विचार कर वह ऐसे ही प्रपंच में फंस जाता है । अंत में जब वह देखता है कि सारे संसार की बात दूर हैं, मैं अपने शरीर को भी वश में नही कर पाया हूं तो उसे बड़ी निराशा होती है । वह पश्चात्ताप की आग में दग्ध होने लगता है । मगर उस समय वह अशक्त हो जाता है, अतएव सिवाय पश्चात्तप के वह और कुछ भी नहीं कर पाता । वृद्धावस्था और उसके साथी–संगी मानों उसका उपहास करते हैं ।

इसके विपरीत जो विवेकवान् पुरुष इस बात का विचार करता है कि भगवान् शीतलनाथ त्रिभुवन के साथ कैसे बने हैं ? त्रिभुवन की श्रेष्ठ सम्पदा उन्हें किस प्रकार प्राप्त हुई? त्रिभुवन का लक्ष्मी ने उनके गले में वरमाला क्यों डाली? तब आत्मा को ज्ञान होता है कि भगवान् ने समस्त प्रकार की अनुचित प्रवृत्ति रोक दी थी । कर्मों का जाल काट कर फेंक दिया था और राग–द्वेष पर पूर्ण रुप से विजय पई थी । इसी कारण संसार की समस्त श्रेष्ठ सम्पदा उन्हें प्राप्त हुई [illegible] क्या जैनशास्त्र और क्या दूसरे शास्त्र, सभी एक स्वर [illegible] कहते है कि राग–द्वेष का समूल नाश किये बिना [illegible] पूर्णता नहीं आ सकती । और जब तक आत्मा में [illegible] आती तब तक वह संसार की समस्त [illegible]

अधिकारी नहीं है । जो महाभाग राग–द्वेष को पूरी तरह जीत कर पूर्ण हो जाता है, सारा संसार उसका दास बन जाता है और उसकी जय मनाने लगता है । इस प्रकार समस्त संसार अपने अधीन किया जाता है ।, पर चाहिये प्रयत्न करने वाला। प्रयत्न अपने लिये आप ही किया जाता है । एक, दूसरे के लिये प्रयत्न करता है ।

भक्तों ने भगवान् शीतलनाथ की प्रार्थना में कहा –

जय जय जिन त्रिभुवन धणी,
करुणानिधि करतार सेव्यां सुरुतरु जहो ।

हे प्रभो ! आपकी जय हो ! क्योंकि आप त्रिभुवनपति है और साथ ही दयासागर भी है । आप केवल अपनी ही दया नहीं करते किन्तु संसार के सभी जीवों की दया करते हैं । संसार के सब जीवों की दया से प्रेरित होकर ही आपने महान् प्रवृत्ति की है ।

कहा जा सकता है । कि जिसने राग–द्वेष को जीत लिया है, उसे किसी प्रकार की प्रवृत्ति में पढ़ने की क्या आवश्यकता हे ! ऐसा कहने वालों को सोचना चाहिए कि कोई आदमी अपने पास का वस्तु जगत् के सामने खोल कर रख दे और उस वस्तु से सब लोगों को लाभ उठाने के लिये आह्वान करे तो उसकी यह उदारता क्या सराहनीय नहीं है? एक व्यक्ति ने कही से रत्न उपार्जन किये हैं । वे उसके भण्डार में भरे हैं । लेकिन वह आदमी अपना भंडार खोलकर सबसे कहता है 'इन रत्नों से कोई भी लाभ उठा लो । वह भी सोचता है कि मुझे जो कुछ प्राप्त हुआ है सो सिर्फ मेरे

लिए ही नहीं हुआ है किन्तु सभी के हित के लिये प्राप्त हुआ है। ऐसा कहने और समझने वाले व्यक्ति की उदारता और संतोषवृत्ति कैसी आदर्श है! उसमें ऐसी उदारता है, इसी कारण तो अपने श्रम से प्राप्त वस्तु का लाभ वह दूसरों को दे सकता है। मान लीजिए किसी आदमी ने महल बनवाया। अगर वह सोचता है कि इस महल से केवल मैं ही लाभ उठाऊं और दूसरा लाभ न उठा सके, तो मानना होगा कि उसमें समभाव नहीं है। इसके विरुद्ध दूसरा महल का मालिक सोचता है—यह महल मुझे छाया देता है। अगर इसके बगल में दूसरा कोई आदमी आकर खड़ा हो जावे तो यह महल उसे भी छाया देगा। इस तरह जब महल में राग-द्वेष नहीं है तब मैं क्यों राग-द्वेष करूं? ऐसा सोचकर वह सभी को महल से लाभ उठाने देता है तो कहना होगा कि उसमें समभाव है, राग-द्वेष नहीं है।

सारांश यह कि अपनी वस्तु का लाभ दूसरे को तभी लेने दिया जाता है जब हृदय में समभाव हो। उदाहरण के लिए मेघकुमार की बात लीजिये। मेघकुमार ने हाथी के भव में जो मण्डल बनाया था, उस मण्डल से अगर उसे ममत्व होता और उसमें राग-द्वेष की उत्कटता होती तो वह दूसरे प्राणियों को मण्डल से लाभ न उठाने देता। उसमें ऐसी उदारता थी, इसी कारण उसने दूसरे जीवों को स्थान लेने दिया।

पर विचार करेंगे तो आपको परमात्मा का रूप समझ में आ जायेगा । आप समझ सकेंगे कि जब किंचित् आत्मिक विकास होने पर भी अर्थात् थोड़े अंश में राग—द्वेष के मिटने और आंशिक रूप से समभाव अपने पर आत्मा अपनी वस्तु का लाभ दूसरों को उठाने देता है तो जिन परमात्मा ने पूर्णरूप से राग—द्वेष का नाश कर दिया है, जो त्रिलोकीनाथ हो चुके हैं वे अगर प्राप्त ज्ञान का लाभ दूसरों को अंधकार में भटकने वाले संसारी मनुष्यों को दें तो इसमें आश्चर्यकी बात ही क्या है ? उनमें ऐसी उदारता—अनुकम्पा क्यों न हो ? भगवान् अपनी इस उदारता के फलस्वरूप ही अज्ञान अन्धकार से व्याप्त इस विश्व में ज्ञान का लोकोक्रार प्रकाश फैलाते हैं और जगत् को आव्हान करके कहते हैं – 'भद्र पुरुषों ! जो शक्ति मुझमें है वह तुम में भी विद्यमान है । साधना के जिस पथ का मैंने अनुसरण किया है उसी पथ पर तुम भी अग्रसर हो ओ । ऐसा करने से तुम्हारी आत्मा में उसी शक्ति का प्रकाश होगा जो तुम मुझमें देखते हो ।

यहां एक विचारणीय प्रश्न उपस्थित होता है । जो शक्ति भगवान् में और जिसे भगवान् ने प्रकट किया है वही शक्ति जब सभी में विद्यमान है तो सभी लोग उसे प्रकट क्यों नहीं कर पाते ? अगर कोई यह समझता है कि जो शक्ति परमात्मा में है वह हम में—आत्मा में नहीं है तो वह भयंकर भूल करता है । मैं कई बार कह चुका हूं कि आत्मा और परमात्मा सजातीय है दोनों का स्वभाव और गुण मूलतः एक समान है । दोनों में मौलिक अन्तर कुछ भी नहीं है । जो अन्तर है वह औपाधिक है । परमात्मा अपने स्वभाव के समस्त

आवरणों को दूर कर चुके है और परमात्मा के स्वभाव परकर्म के आवरण है । इन आवरणों के कारण आत्मा की शक्तियां उसी प्रकार व्यक्त नहीं हो पाती, जिस प्रकार मेघों के कारण सूर्य का प्राकृतिक तेज प्रकट नहीं होता । इस भिन्नता को द्योतित करने के लिए ही 'परम' विशेषण लगाया जाता है । अर्थात् जो आत्मा समस्त आवरणों से अतीत हो जाता है, वह परम आत्मा परमात्मा है और जो आवरणों से युक्त है वह आत्मा है । यह दोनों संज्ञाएं स्पष्ट संकेत कर रही है कि परमात्मा और आत्मा मूलतः सजातीय द्रव्य है । बाहरी सम्पत्ति की बात अलग है पर आन्तरिक सम्पत्ति सभी जीवों की समान है ।

तो फिर सभी जीव परमात्मा क्यों नहीं बन जाते ? इसके उत्तर में कहा जा सकता है वि पशु–पक्षी कीट–पतंग मनुष्य आदि जीवों को तो सब आस्तिक एक ही कोटि में मानते हैं । फिर उनसे यह प्रश्न किया जा सकता है कि अगर सभी जीवों में मनुष्य बनने की शक्ति है तो सभी मनुष्य क्यों नहीं बन जाते ? अमेरिका के प्रत्येक नागरिक को वहां के राष्ट्रपति (प्रेसीडेंट) का पद पाने का अधिकार है । फिर सभी राष्ट्रपति क्यों नहीं बन जाते । वस्तुतः इस भेद का कारण योग्यता है । प्रत्येक कीट–पतंग मनुष्य बन सकता है लेकिन बनेगा तभी जब उसको योग्यता का विकास हो जाये। यही बात राष्ट्रपति पद के विषय में कही जा सकती है और यही समाधान परमात्मा के विषय में किया जा सकता है । वस्तुतः जीव परमात्मा बन सकते हैं किन्तु सभी की योंग्यता का विकास नहीं हो पाता । आत्मिक गुणों का

विकास होने पर परमात्मदशा प्राप्त होती है । यही कारण है कि सभी जीव वह सर्वोत्कृष्ट दशा प्राप्त नहीं कर सकते । फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि परमात्मा और आत्मा में कोई मौलिक भेद है जो मिट नहीं सकता ।

आंतरिक सम्पत्ति समान होने पर भी सब जीव परमात्मा नहीं बनते इसका एक कारण और भी है । आत्मा जब कुछ विकास करता है और उसकी बुद्धि बढ़ती है तो वह बुद्धि कूद–फांद मचाने लगती है । बुद्धि की इस कूद–फांद को ही आज मस्तिष्क शक्ति कहा जाता है और जिनके पास वह ज्यादा होती है उसकी तारीफ की जाती है । उसी मस्तिष्कशक्ति से वैरिस्टर लोग एक–एक बात के लिए हजारों रूपये ले लेते हैं । इस प्रकार आपके मस्तिष्क को बहुत महत्व दिया जाता है और प्रत्येक विषय पर उसी को आगे करके विचार किया जाता है । लेकिन आध्यात्मिक शक्ति को प्रकट करने का कार्य केवल दिमागी शक्ति या मानसिक विचारों के द्वारा नहीं हो सकता । बल्कि जो व्यक्ति केवल मस्तिष्क की शक्ति पर निर्भर रहता है वह आत्मा में रही हुई शक्ति को प्रकट नहीं कर सकता है । इसका आशय यह है कि उसे प्रधानता न दी जाए और मस्तिष्क को हृदय के अधीन बनाया जाये । मस्तिष्क की अपेक्षा हृदय को अधिक महत्व मिलना चाहिये । जो ऐसा करता है वही आत्मिक शक्ति प्राप्त कर पाता है ।

आजकल आम तौर पर हृदय की अपेक्षा मस्तिष्क को अधिक महत्व दिया जाता है । प्रायः लोग मस्ष्कि के कथनानुसार ही चलते हैं । कल्पना करो कि एक आदमी किसी श्रीमंत की लड़की को ब्याह लाया है । लड़की छबीली है, बनी–ठनी हैं

और आजकल के फैशन के अनुसार रहती है । दूसरी ओर उस पुरुष की माता है जो अपने पुराने विचारों की है । अब वह पुरुष किसके अधीन होकर रहना चाहेगा ? और वास्तव में उसे माता के अधीन रहना चाहिये या पत्नी के अधीन रहना चाहिये ? यद्यपि उचित तो यही है कि पुत्र अपनी माता के अधीन होकर रहे किन्तु देखा जाता है इसके विपरीत हो अर्थात् पुरुष पत्नी के अधीन हो जाता है । इसका प्रधान कारण हार्दिक विचारों से प्रभावित हो जाता है । उसे सोचना तो यह चाहिये कि ससुर ने मेरी श्रीमंताई देखकर अपनी लड़की दी है लेकिन माता ने क्या देख कर मेरा पालन किया है ? माता ने केवल हृदय की प्रेरणा से ही मेरा पालन किया है । उसने और कुछ नहीं देखा । हार्दिक विचारों से प्रेरित होकर ही माता ने मेरे लिए कष्ट उठाये हैं । इस प्रकार जिस हृदय–बल के कारण मेरा पालन–पोषण हुआ है, उस हृदय को अब भूल जाना कृतघ्नता तथा मूर्खता है । मगर ऐसा विचार कितने लोगों को होता है ! मेरा ख्याल है, आज पत्नी के अधीन होकर माता की उपेक्षा करने वाले लोग ही ज्यादा निकलेंगे ।

मातृहृदय की सभी लोगों ने प्रशंसा की है । आज के वैज्ञानिकों का भी यही कहना है कि माता में हृदय का बल होता है । इसी बल के कारण वह संतान का पालन करती है और संतान के लिए कष्ट उठाती है । यदि माता में हृदयबल न होता तो वह स्वयं कष्ट सहन करके संतान का पालन क्यों करती ? कहा जा सकता है कि माता भविष्य सम्बन्धी आशाओं से प्रेरित होकर सन्तान का पालन करती है

इसके उत्तर में यही कहा जायेगा कि पक्षियों को अपनी सन्तान से क्या आशा रहती है ? पक्षी के बच्चे बड़े होकर उड़ जाते हैं । वे अपने पिता को पहिचानते हैं और न माता को ही । फिर पक्षी अपनी सन्तान का पालन क्यों करते हैं ? उन्हें किसी प्रकार की आशा नहीं होती । फिर भी वे संतान का पालन करते हैं । इसका एक मात्र कारण हृदय–बल ही है । इस प्रकार मातृहृदय संसार की अनूठी सम्पदा है अनमोल निधि है । इसी कारण सबने मातृहृदय की प्रशंसा की है । पहले बालकों को यह शिक्षा दी जाती थी –

टगमग पग टगता नहीं खाय न सकता खाद ।
उठ न सकतो आपथी लेश हती नहिं लाज ।।
ते समये आणो दया बालक ने मां–बाप ।
सुख आपे दुःख बेठने ते उपकार अमाप ।।
कोई करे एवे समय बे घयिड़क वरदास ।
सारी उम्मर थइ रहे ते नरनीं नरदास ।।

इस प्रकार माता ने हृदय–बल से ही अपनी सन्तान को पाला है । इसी कारण बालकों को ऐसी शिक्षा दी जाती थी । लेकिन आज के लोग उस हृदय–बल को भूलकर मस्तक के विचारों के अधीन हो जाते हैं और पत्नी के गुलाम बन कर माता की उपेक्षा करते हैं । यह कृतध्नता नहीं तो क्या है !

मतलब यह है कि आत्मा में जो शक्ति है वह हृदय बल द्वारा ही प्रकट की जा सकती है । जो लोग अपने हृदय की उपेक्षा करके मस्तिष्क द्वारा हिलाई हुई डोरी के अनुसार ही

नाचते हैं वे आत्मिक शक्ति कैसे प्राप्त कर सकते हैं ? उस शक्ति को प्रकट करने का सामथर्य तो हृदय--बल में ही है । इसी कारण सभी विवेकवान् हृदय--बल को प्रशंसा करते हैं । गीता में भी हृदय–बल को सराहना की गई है, लेकिन यह वात अभ्यास करने पर भी मालूम होती है ।

कुछ लोगों का खयाल है कि गीता लड़ाई की पुस्तक है। उसमें युद्ध को उभारने की शिक्षा दी गई है । मगर ऐसा होता तो गीता की गणना ऐतिहासिक पुस्तकों में होनी चाहिये थी। धार्मिक ग्रन्थों में उसकी गिनती क्यों होती ? बहुत से लोग उसे धार्मिक ग्रन्थ मानकर उसका अध्ययन करते हैं । ऐसा भी क्यों किया जाता ? गीता वास्तव में लड़ाई की पुस्तक नहीं है । उसमें आलंकारिक रूप में हृदय बल को प्रकट करने की शिक्षा दी गई है । मेरा यह विचार नवीन नहीं बहुत पहले का है और इसे मैं पहले भी प्रकट कर चुका हूं । गीता में कौरव–पांडव–युद्ध की बात आई है । किन्तु विचार करने पर ज्ञात होगा कि वहां आलंकारिक रूप में आसुरी शक्ति या मस्तिष्क की शक्ति को कौरव का रूप दिया गया है। दैवी शक्ति या हृदय–बल को पांडवों का रूप प्रदान किया गया है । इन दोनों में युद्ध कराकर दैवी शक्ति अथवा हृदय–बल को विजय–दिखलाई गई है । अतएव गीता युद्ध की पुस्तक नहीं है किन्तु धर्म सिखलाने वाली पुस्तक है । भारत में ऐसा उच्चकोटि का साहित्य विद्यान् है, किन्तु आज भारतीय लोग भारत के इस साहित्य की तो उपेक्षा करते हैं और कोई विदेशी विद्वान् इसी साहित्य का कुछ अंश बोलता है तो उसे बहुत महत्व देते हैं । कई लोगों को तो भारतीय

साहित्य की बात पसन्द ही नहीं आती । लेकिन जिस प्रकार राम के मंदिर में राम की और भैरों के मन्दिर में भैरों को ही मूर्ति होती है, दूसरे की नहीं, उसी प्रकार यहाँ तो भारतीय साहित्य की ही बात हो सकती है । फिर चाहे वह किसी को अच्छी लगे या न लगे ।

गीता के सम्बन्ध में यह मानकर विचार किया जाये कि वहां कौरव का अर्थ आसुरी शक्ति या मस्तिष्क का बल है और पाण्डव का अर्थ दैवी शक्ति या हृदय का बल है और इन्हीं दोनों का युद्ध करवाकर दैवी प्रकृति की विजय दिखाई गई है; तो गीता में बहुत चमत्कार दिखाई देगा । पाण्डवों के रूप में वहां दैवी बल की स्थापना की गई है । युधिष्ठिर पाण्डव थे । उनसे वन में भी अगर पूछा जाता था कि आप कैसे हैं, तो वे सदैव यही उत्तर दिया करते थे–आनन्द है । इस प्रकार उनके सदैव आनन्द में रहने का कारण यही था कि उन्हे हृदय–बल प्राप्त था । अतएव हृदय–बल को पाण्डवों का रूप दिया गया है । यह बात ठीक तरह समझाने के लिये महाभारत में आई हुई एक घटना सुनाता हूं ।

पाण्डव वन में थे । उस समय उनके दिन बहुत ही कष्टपूर्वक बीत रहे थे । यहां तक कि भरपेट भोजन भी उन्हें नहीं मिल पाता था । उन दिनों एक बार धर्मराज सहज ही द्रौपदी की झोपड़े में चले गये । उस समय द्रौपदी किसी जंगली अनाज को साफ कर रही थी । धर्मराज को आते देख द्रौपदी ने उठकर उनका स्वागत किया । धर्मराज ने द्रौपदी से पूछा–देवी, क्या कर रही हो ?

द्रौपदी – सच कह दूं ?

धर्मराज – क्या यह भी पूछने की बात है ? सत्य तो कहना ही चाहिये ।

द्रौपदी – अगर आप सत्य सुनना चाहते हैं तो मैं कहती हूं कि आपका पाप भोग रही हूं । मैं राजमहल में रहने वाली, सब तरह के सुख भोगने वाली और वीर पत्नी होकर भी आज यहां जंगली अन्न साफ कर रही हूं, उसे आपका पाप न कहूं तो क्या कहूं ? आप ही भीम, अर्जुन को बराबर दबाया करते हैं ! अभी उस दिन की बात है कि दुर्योधन को दूसरे लोगों ने बांध लिया था । अगर दुर्योधन उस समय मारा जाता तो अपना तो दुःख ही मिटता । लेकिन आपने उस पानी को बचा लिया । आपने ही विधान किया कि दुर्योधन दूसरे के द्वारा नहीं मारा जाना चाहिये । वह अपना भाई है। जब उसके साथ अपना युद्ध होगा तो वे सौ भाई हैं और हम पांच भाई है । लेकिन किसी तीसरे के साथ युद्ध होने पर अपना एक सौ पांच भाई हैं । इस प्रकार कह कर और अर्जुन को भेजकर आपने ही उस पानी को बचा लिया और मुझे यह दुःख भोगना पड़ रहा है ! इसलिये मैं इस दुःख को आपका ही पाप कहती हूं ।

धर्मराज – अच्छा देवी, उस समय मुझे क्या करना चाहिये था ?

द्रौपदी – उसे मरने देना चाहिये था ।

धर्मराज – देवी, तुमने अब तक मुझे और मेरे सिद्धान्त

को नहीं समझ पाया । यह मेरा दुर्भाग्य ही समझना चाहिए।

धर्मराज के यह कहने पर द्रौपदी कुछ हिचकिचाई । वह कहने लगी–महाराज, अगर मुझसे कोई भूल हुई है तो आप बतलाइये । आपके शब्दों ने मुझे व्यथित कर दिया है।

धर्मराज – तुम मेरे हृदय को तो समझती हो, मगर तुमसे फिर–फिर भूल हो जाती है । देवी, आज तुम ऐसा कहती हो लेकिंन जिस समय मैंने तुम्हें जुए के दाव पर लगा दिया था, मैं तुम्हे हार गया था और तुम्हारे वस्त्र खींचे जा रहे थे, उस समय तुम्हारी रक्षा किसने की थी ? उस समय तुमने किसकी प्रार्थना की थी ! क्या उस समय तुम्हारी रक्षा भीम और अर्जुन ने की थी ! वे तो मेरी ही तरह बने बैढे थे फिर तुम्हारी रक्षा कैसे हुई थी ।

द्रौपदी – उस समय किसी ने मेरी रक्षा नहीं की थी । मैंने तब परमात्मा की ही प्रार्थना की थी कि हे–प्रभो ! यहाँ मेरे पति और पितामह आदि सभी लोग बैठे हैं । फिर भी मेरी लाज जा रही है । इस समय मेरी रक्षा होनी चाहिये ।

धर्मराज – उस समय सब बलों को त्याग कर परमात्मा की शरण में जाने से ही रक्षा हुई थी । इससे यही नतीजा निकलना चाहिये कि दूसरे सभी बलों का त्याग कर देने पर ही ईश्वरीय तत्व या बल प्राप्त होता है ।

दूसरे सब बल त्यागने पर ही ईश्वरीय तत्व की प्राप्ति होती है, यह बात जेन शास्त्र भी कहते हैं और दूसरे शास्त्र भी कहते हैं । यह बात दूसरी है कि कोई किसी रीति से

कहता है और कोई किसी रीति से; लेकिन कहते सभी हैं । द्रौपदी ने जब सभी बलों का परित्याग कर दिया था और वह एकान्त रूप से परमात्मा की शरण में चली गई थी, तभी उसकी रक्षा हुई थी । इसलिये कहा गया है –

सुन री मेरे निर्बल के बल राम ।
द्रुपदसुता निर्बल भई जा दिन गहि लाये निज धाम।
दुश्शासन की भुजा थकित भई वसन रूप भये श्याम।।
सुने री मेरे निर्बल के बल राम ।

द्रोपदी ने जब सब ओर की आशा त्याग दी और वह निर्बल हो गई तब उसकी आत्मा में तेज आया । आत्मा जब तक अपने दुष्कृत्य नहीं त्यागता है तब तक उसे परमात्मिक बल की प्राप्ति नहीं होती । गीता में कहा है –

येषां त्वन्तगतं पाप जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढ़व्रताः ।।

आशय यह है कि जो दुष्कृत्य नहीं त्यागते वे परमात्मा को नहीं भज सकते । वही पुण्यात्मा परमात्मा को भज सकते हैं, जिनके पाप सुकृत्यों के कारण नष्ट हो चुके हैं । ज़ो लोग माया के चक्कर में पड़े हैं वे प्रथम तो परमात्मा को भजेंगे ही नहीं, कदाचित् भेजेंगे भी तो केवल इसलिए कि मेरा अमुक प्रयोजन सिद्ध हो जाये । ऐसे लोग जिस प्रयोजन को सिद्धि के लिए परमात्मा को भजते हैं, वह प्रयोजन किसी कारण सिद्ध नहीं होता तो वे कहने लगते हैं–कहां परमात्मा ! होता तो अपना परिचय न देता ?

वास्तव में आत्मा अपनी भूल तो देखता नहीं है और केवल दूसरों के दोष देखा करता है । सूर्य का प्रकाश तो सर्वत्र फैल जाता है । मगर किसी अन्धे से पूछो तो क्या वह जान सकता है कि सूर्य के विषय में क्या कहेंगे । वे यही कहेंगे कि सूर्य तो और अधिक अन्धकार करने वाला है ! उसके निकलने पर हमको कुछ दीखता ही नहीं है । लेकिन देखना चाहिये कि हम सूर्य की भूल है या जिन्हें दिखाई नहीं देता उन्हीं का दोष है ! इसी प्रकार परमात्मा को देखने के सम्बन्ध में भी आत्मा से भूल होती है । परमात्मा अगर नहीं दीखता है तो अपनी भूल के ही कारण ! अन्यथा परमात्मा तो प्रत्यक्ष ही है । परमात्मा को इस हिसाबी पद्धति से नहीं देखा जा सकता । कि मैंने यह किया है इसलिये मेरा यह काम होना चाहिये । परमात्मा को देखने के लिये समस्त बल का त्याग करना पड़ता है ।

धर्मराज द्रौपदी से कहने लगे–देवी ! उस समय तुम्हारी रक्षा किसने की थी ! कदाचित् मेरे द्वारा अथवा भीम या अर्जुन द्वारा तुम्हारी रक्षा होती भी तो क्या वैसा आनन्द आता जैसा आनन्द उस तरह रक्षा होने में आया । इस तरह विचार कर तुम वास्तविकता को समझो और हार्दिक विचारों को भूल कर मस्तिष्क के विचारों में मत पड़ो । मस्तिष्क सदा सांसारिक सुखों की ही खोज में रहता है, किन्तु हृदय न्याय और धर्म को ही चाहता है । मैंने हृदय की प्रेरणा से ही दुर्योधन को बचाया है । हृदय–बल के कारण ही मैंने उसको दूसरे के द्वारा नहीं मारे जाने दिया । दुर्योधन भले ही धर्म को भूल जाये, अन्याय के पथ पर चले और दुष्टतापूर्ण व्यवहार करे मगर उसके

कारण मुझे तो हृदयबल की अवहेलना नहीं करनी चाहिये ! समभाव का त्याग करना मेरे लिए उचित नहीं हैं । दूसरे की देखादेखी करके अपने सौजन्य को त्याग देने वाला पुरूष बुद्धिमान् नहीं कहा जा सकता । बुद्धिमान् पुरूष प्रत्येक समय अपने ही स्वभाव को देखते हैं । किस प्रकार देखते हैं यह बताने के लिये तुम्हें एक बात सुनाता हूं ।

एक ब्राह्मण गंगा के किनारे खड़ा हुआ था । किनारे के वृक्ष पर एक बिच्छू चढ़ा था । वह गंगा के जल में गिर पड़ा और तड़फड़ाने लगा । यह देख कर ब्राह्मण को दया आ गई। उसने एक पत्ता लेकर बिच्छू को उठाया । लेकिन बिच्छू हाथ पर चढ़ गया और उसने हाथ में डंक मार दिया । डंक लगते ही ब्राहाण का हाथ हिल गया और बिच्छू फिर पानी में गिर पड़ा ब्राहाण ने उस बिच्छू को फिर उठाया लेकिन फिर भी ऐसा ही हुआ । ब्राह्मण ने तीन–चार बार बिच्छू को उठाया लेकिन हर बार बिच्छू ने उसे काटा । यह हाल देख कर वहां खड़े कुछ लोग कहने लगे–यह ब्राह्मण कितना मूर्ख है ! बिच्छू इसे बार–बार काटता है और यह उसे बार–बार उठाता है । उसे मरने क्यों नहीं देता ?

इन लोगों के कथन के उत्तर में ब्राह्मण ने कहा–बिच्छू अपना स्वभाव प्रकट कर रहा है और मैं अपना स्वभाव दिखला रहा हूं । जब बिच्छु अपना स्वभाव नहीं त्यागता तो मैं अपना स्वभाव कैसे त्याग दूं ।

धर्मराज कहते हैं–देवी, यह हृदयबल का ही प्रताप था कि ब्राह्मण ने बिच्छू के बार–बार काटने पर भी उसे पानी से

निकालना नहीं त्यागा । ब्राह्मण में अगर हृदयबल न होता और सिर्फ मस्तक का ही बल होता तो वह भी दूसरों की तरह कह देता—मरता है तो मरे ! बात यह है कि जिसमें हृदय का बल है वह दूसरे को देख कर अपना स्वभाव नहीं बदलता है उस ब्राह्मण की तरह यही सोचता है कि जब मेरा विरोधी अपना स्वभाव नहीं त्यागता तो मैं भी अपना स्वभाव क्यों त्यागू! देवी तुममें भी हृदय—बल है । हृदयबल न होता तो तुम हमारे साथ कष्ट क्यों भोगती ! तुमने हमारे साथ रह कर बहुत कष्ट भोगे हैं, इससे प्रकट है कि तुम्हें हृदयबल प्राप्त है और तुम सीता, तारा आदि सतियों के पद चिह्नों पर चल रही हो, लेकिन कभी—कभी कष्ट से घबरा कर ऐसा करने लगती हो ।

मतलब यह है कि गीता में हृदयबल का ही महत्व दिया गया है । हृदयबल न होने अथवा हृदयबल न होने पर मस्तिष्कबल की विजय होने पर ही माता का अपमान किया जाता है और पत्नी की अधीनता स्वीकार की जाती है । यद्यपि संसार में ऐसे—ऐसे नर—वीर भी हुए हैं जिन्होंने माता के लिए सब कुछ, यहां तक कि स्त्री को भी त्याग दिया है। लेकिन ऐसे लोग भी कम नहीं हैं जो स्त्री को प्रसन्न करने के लिये माता का भी अपमान करने से नहीं चूकते । इस प्रकार संसार में दोनों ही बल है और रहेंगे, मगर हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि आत्मा का कल्याण हृदयबल से ही हो सकता है । हृदयबल होने पर दूसरों के कल्याण की कामना अन्तःकरण में जागृत होती है । देश समाज या आत्मा के सुधार की लगन हृदयबल से ही उत्पन्न होती है । पश्चिमी

देशों में यद्यपि मस्तिष्क के बल को अधिक महत्व दिया जाता है, और प्रधानतः उसी का आश्रय लिया जाता है लेकिन हृदयबल की प्रशंसा तो उन्हें भी करनी पड़ती है ।

सुना है, एक अमेरिकन पुरुष भारत में आया । एक भारतीय से उसकी मित्रता हो गई । अमेरिकन अपना कार्य समाप्त करके अमेरिका लौट गया । उसका वह भारतीय मित्र जब अमेरिका गया तब उसने अपने अमेरिकन मित्र से मिलने का विचार किया । वह उसके घर पहुंचा । साहब उस समय घर नहीं था । उसकी पत्नी ने भारतीय अतिथि का सत्कार करके उसे बिठलाया । भारतीय ने पूछा साहब कहां गये हैं! मेम साहिबा ने कहा आप बैठिये अब उनके लौटने में कुछ ही समय बाकी है । आते ही होंगे ।

भारतीय सज्जन बैठे रहे । थोड़ी देर बाद ही उन्होंने देखा कि साहब आ रहे हैं मगर उनके दोनों कंधों पर दो कुदाल रखे हैं और वे मिट्टी से लथपथ हैं । भारतीय सज्जन मन ही मन सोचने लगे–भारत में यह इतने ऊंचे पद पर कार्य करता था और बड़े ठाठ से रहता था । यहां इसका यह कैसा हाल है ? क्या इसका दीवाला निकल गया है ? इस प्रकार सोचते हुए वह भारतीय उससे मिलने के लिए आगे बढ़े । उन्होंने साहब का अभिवादन किया । मगर साहब उससे कुछ भी न बोले । जब साहब की लड़की ने उन्हें पानी दिया और साहब स्नान करके अपनी बैठक में आये, तब वह अपने मित्र से मिले ।

भारतय मित्र न साहब से पूछा – आप भारत में तो

पद पर थे । अब यहां इस प्रकार क्यों रहना पड़ता है ! साहब बोले--हम लोग भारतीयों सरीके नहीं हैं । भारतीय तनिक आगे बढ़े कि वास्तविकता को और अपने असली धंधे को भूल जाते । हम लोग नहीं भूलते । खेती करना हमारे बाप--दादों का धंधा है । मैं जब तक भारत में था; दूसरा काम करता था। लेकिन जब यहां आया हूं तो अपने पैतृक धंधे में लगा हूं ।

इस प्रकार की विचारधारा हृदयबल से ही उत्पन्न होती है । भारतीय लोग हृदयबल को जल्दी भूल जाते हैं । इस कारण जहां कोई बी.ए. एल--एल.बी होता है कि दो--चार आदमियों के लिये भी भारभूत हो जाता है । कारण यही है कि उसका हृदयबल दब जाता है और मस्तिष्कबल उमड़ जाता है ।

मैं यह कहना चाहता हूं कि आपको सोचना चाहिये कि माता ने मुझे हृदयबल से ही पाला हे । माता में हृदयबल न होता, करूणा न होती, तो वह मेरा पालन क्यों करती ? मुझे फैंक क्यों न देती ? हृदयबल के प्रताप से ही वह मेरा रोना सुनकर पालने के पास दौड़ी आती थी, सब काम छोड़कर पहले मेरी फरियाद सुनती थी ।

मैं महाराज को याद दिलाना चाहता हूं कि आपकी प्रजा आपके लिये पुत्र के समान है और आप प्रजा के लिये माता--पिता के समान हैं । पुत्र अपनी फरियाद माता--पिता को न सुनाएगा तो किसे सुनाएगा ? आप प्रजा को फरियाद न सुनेंगे तो कौन सुनगा ? माता अपने पुत्र को कभी थप्पड़ भी मार देती है लेकिन उसका हृदय तो पुत्र के कल्याण की

कामना से परिपूर्ण ही रहता है और फिर उसे पुचकार भी लेती हैं। इसी प्रकार महाराज ने जो कारगार बना रखा है वह प्रजा के कल्याण के लिये ही होना चाहिये और जो अस्पताल बना रखा है वह भी प्रजा की भलाई के लिये ही होना चाहिये। माता को थप्पड़ भी मारनी पड़ती है और पुचकारना भी पड़ता है, लेकिन जो भी वह करती है, हृदय की प्रेरणा से ही करती है। उसके हृदय में बालक की एकान्त कल्याण–कामना ही रहती है। इसी प्रकार आप भी प्रजा पर माता के समान दया रखें। राजा और प्रजा में जब इस प्रकार का मधुर संबंध स्थापित हो जायेगा तो भारतवर्ष पहले की ही भांति सुखी, शान्त और समृद्ध बन जाएगा। दैवयोग से ऐसा न हुआ तो सारे संसार में जो स्थिति पैदा हो रही है, भारतवर्ष उससे अछूता कैसे रहेगा ?

मोरवी–महाराज को मैंने एक दिन राजा भोज की एक कथा सुनाई थी आज दूसरी कथा सुनाता हूं। इस कथा से विदित होगा कि राजा में किस प्रकार के हृदयबल की आवश्यकता है ?

एक बार राजा घोड़े पर सवार होकर किसी नदी के किनारे वायुसेवन के लिये गये। उनहोंने देखा कि एक मजदूर सिर पर लकड़ी का गट्ठा लिये नदी पार कर रहा है। मजदूर को चाल ढाल आदि से राजा भोज न जाने कैसे समझ गये कि यह कोई साधारण मजदूर नहीं बल्कि कोई विद्वान् जान पड़ता है। उन्होंने सोचा–जेसे बादल या राहु में चन्द्रमा छिपा है, उसी प्रकार मजदूर के भेष में यह विद्वान्

छिपा हुआ है ।

भोज में प्रजा हित की लगन बड़ी तीव्र थी । राजा मजदूर के पास पहुंचा । उसने देखा मजूर की दृष्टि नीची ही है । उसने मेरी ओर देखा तक नहीं ! राजा सोचने लगा—जान पड़ता है यह आदमी इन्द्रियों को दमन करने वाला है । यह मेरे बोले बिना बोलेगा भी नहीं । मुझे स्वयं बात आरंभ करनी चाहिये । भोज के जमाने में संस्कृत भाषा का अच्छा प्रचार था भोज स्वयं संस्कृत भाषा का उंच्चश्रेणी का ज्ञाता था । अतएव उसने पद्यमय संस्कृत भाषा में प्रश्न किया —

कियन्मानं जलं विप्र !

यद्यपि जल की गहराई साफ मालूम हो रही थी, फिर भी राजा ने मजदूर की परीक्षा करने के लिये प्रश्न किया ! नदी में कितना जल है !

मजदूर ने राजा की ओर देखकर जान लिया कि राजा मेरी परीक्षा कर रहा है । यह सोच कर उसने भी पद्य में ही उत्तर दिया—

जानुदघ्नं नराधिप !

अर्थात् — हे राजन् जानु से नीचे यानी घुटनों तक है।

यह उत्तर सुनकर राजा समझ गया कि यह पुरुष विद्वान् है । अन्यथा पद्य में उत्तर कैसे देता ? राजा ने फिर सोचा—इसकी अधिक परीक्षा करनी चाहिये और अधूरे श्लोक को पूरा भी कर लेना चाहिये । यह सोच कर उसने फिर

प्रश्न किया –

कथं सेयमवस्था ते !

अर्थात्–तुम्हारी यह दशा क्यों है ! राजा के इस प्रश्न के उत्तर में मजदूर ने–जो जाति से ब्राह्मण था, कहा –

न हि सर्वे भवादृशाः ।

अर्थात् सभी आप सरीखे नहीं है ।

राजा सोचने लगा–इसका उत्तरदायित्व राजा होने के नाते मुझ पर आता है । इस का दुःख मिटाना मेरा कर्त्तव्य है। यह सोच कर राजा ने विद्वान से कहा–'यह अपने सिर पर का लकड़ी का भारा नदी में फैंक दो । राजा का यह कथन सुन कर वह सोच सकता था कि कौन जाने राजा कुछ देगा भी या नहीं ! कहीं ऐसा न हो कि मेरा गांठ का भारा भी चला जाये ! मगर उसने ऐसा नहीं सोचा । उसने यही विचार किया कि जब राजा भारा फैंकने को कहता है तो इसे फैंक देने में क्या हानि है ! कुछ न भी देगा तो न सही ! मेरा एक भारा ही तो जायेगा ।

उसने लकड़ी का भारा नदी में फैंक दिया । यह देख कर राजा ने सोच लिया यह त्यागी है और मेरे वचन पर श्रद्धा भी रखता है । इसके बाद राजा ने उससे कहा–तुम जाकर भण्डारी से कहो कि महाराज ने मुझे एक हजार मोहर देने के लिये कहा है । वह मोहरें मुझे देदो ।

राजा के यह कहने पर विद्वान कह सकता था कि

कह देने मात्र से कौन हजार मोहरें निकाल कर दे देगा ! आप किसी को साथ भेजिये या कुछ लिख कर दे दीजिये । मगर उसने ऐसा कुछ भी नहीं कहा । उसने सोचा–भण्डारी देगा तो ठीक है नहीं तो एक चक्कर ही सही ! इससे ज्यादा और क्या विगाड़ होना है । इस प्रकार सोचकर वह भण्डारी के पास जाने को चल दिया । दरिद्र वेश में होने के कारण वह वड़ी कठिनाई से भंडरी के पास पहुंच सका । वहां पहुंच कर उसने कहा–महाराज ने हजार मोहरें देने के लिये कहा है । भंडारी ने उससे पूछा तुमने ऐसा कौन–सा काम किया है ! विद्वान ने उत्तर दिया और तो कुछ नहीं किया; महाराज के कहने से अपने सिर का भारा नदी में डाल दिया है ।

भण्डारी ने कहा–इतने से काम के लिये हजार मोहरें! कभी हजार मोहरे देखी भी है ? सीधा–सामान के लिये कहा होता तो भी ठीक था । जाओ यहां से !

विद्वान लौट कर राजा के पास गया । राजा तो पहले ही जानता था कि इस प्रकार भंडारी हजार मोहरें नहीं देगा। वह तो केवल विद्वान का धैर्य देखना चाहता था । फिर भी राजा ने पूछा मोहरें मिल गई ?

राजा के इस प्रश्न को सुनकर किसी दूसरे को क्रोध आ सकता था । मगर विद्वान् ने क्रोध नहीं किया । उसने कहा –

राजन् ! कनकधाराभ्यो भवाम् सर्वत्र वर्षति ।
अभाग्यछत्रसच्छिन्ने मयि नायान्ति बिन्दवः ।।

अर्थात्–हे राजन् ! आप तो सर्वत्र स्वर्णधार बरसाते हैं परन्तु मेरे सिर पर अभाग्य का जो छत्र लगा हुआ है उसके कारण मेरे ऊपर एक बूंद भी नहीं गिरती दुर्भाग्य का छत्ता आडा आ रहा है ।

इस कथन द्वारा ब्राह्मण ने राजा की उदारता को प्रशंसा भी कर दी और यह भी बतला दिया कि मुझे कुछ भी नहीं मिला है । राजा उसके कथन का आशय समझ गया उसने विद्वान से कहा–अच्छा, तुम भण्डारी के पास फिर जाओ । उससे कहो कि राजा ने कहा है कि दो हजार मोहरें दे दो ।

ब्राह्मण कह सकता था कि भंडारी ने एक हजार मोहरें तो दी नहीं, दो हजार वह कैसे दे देगा ? लेकिन उसने कुछ नही कहा और चुपचाप भण्डारी के पास चला गया ।

भण्डारी ने उसे दुबारा आया देख कर कहा–तू फिर आ गया ! अब क्यों आया है ?

ब्राह्मण–महाराज ने आपको आज्ञा दी है कि आप मुझे दो हजार मोहरें दे दें ।

भण्डारी–अरे भाई तूने ऐसा क्या काम किया है ?

ब्राह्मण–मैंने दूसरा कुछ काम तो नहीं किया, केवल राजा से यह कहा था कि आप तो बरसते हैं लेकिन मेरे सिर पर अभाग्य का छत्र है वह एक भी बूंद मेरे ऊपर नहीं गिरने देता ।

भण्डारी—जा, चल यहां से । इस तरह कहीं दो हजार मोहरें मिला करती हैं ? इतना कहने के साथ ही भंडारी ने सिपाहियों को आज्ञा दी कि इसे धक्के देकर बाहर निकाल दो ।

सिपाहियों में दया कहां ? उन्होंने अपनी आज्ञाकारिता फौरन दिखला दीय । धक्के खाकर भी विद्वान कुछ नहीं बोला । उसने सोचा—यह मार खाना भी व्यर्थ नहीं है । यह मार इन सिपाहियों की नहीं राजा की है ।

धक्के खाकर भी ब्राह्मण अपने घर नहीं गया । वह सीधा फिर राजा के पास पहुंचा । राजा ने फिर पूछा—मोहरें मिलीं ? ब्राह्मण ने भंडारी या सिपाहियों के विरुद्ध एक शब्द भी न कहते हुए यही कहा –

त्वयि वर्षति पर्जन्ये सर्वे पल्लविता द्रुमाः ।
अस्माकं कर्मवृक्षाणां पूर्वपत्रेषु संक्षयः ।।

अर्थात्—आप रूपी मेघ से तो मूसलाधार वर्षा हो रही है। जिससे वृक्ष पल्लवित हो गये हैं, जो सूखे थे वे भी हरे हो गये हैं । लेकिन मेरा कर्म—वृक्ष ही ऐसा है जिसके लिये यह वर्षा भी विपरीत फल देने वाली सिद्ध हुई । जैसे वर्षा होने पर दूसरे वृक्ष हरे—भरे हो जाते हैं किन्तु जवासा के पहले वाले पत्ते भी सूखकर गिर जाते हैं, इसी प्रकार आपकी वर्षा मेरे कर्मवृक्ष के भी पहले वाले पत्ते गिर गये हैं ।

यद्यपि ब्राह्मण ने स्पष्ट नहीं कहा कि मुझ मोहरों के बदले मार खानी पड़ी है—मुझे मिला कुछ नहीं है । लेकिन

उसके इस कथन से राजा समझ गया कि इससे कुछ नहीं मिला है यही नहीं वरन् अपमानित होना पड़ा है । यद्यपि ब्राह्मण में मस्तिष्क का भी बल था और हृदय का भी बल था। इसी कारण ब्राह्मण ऐसी बात कह सका और इसी से वह इतना धैर्य रख सका । आप भी अपने मस्तिष्कबल को अपने हृदयबल के अधीन रखे तो बुद्धि को एकाग्र बनावें । गीता में कहा है –

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेद कुरुनन्दन !

राजा ने अपने सामन्तों को आज्ञा दी कि तुम लोग इस विद्वान् के साथ जाओ और भण्डारी से कहो कि इस ब्राह्मण को चार हजार मोहरें दे दें । इसे हैरान न करें । भण्डारी से कह देना कि इस पण्डित की परीक्षा हुई थी । इसने धैर्य दिखलाया है । इसी के बदले इसे चार हजार मोहरें दी जा रही है ।

सामन्त विद्वान को लेकर भण्डारी के पास गये । अब तो भंडारी को मोहरें देनी ही पड़ेगी । किन्तु धैर्य के बदले में विद्वान् को मोहरें मिल रही हैं–मुफ्त में नहीं । जो समय पर धैर्य रखते है और परीक्षा से घबराते नहीं हैं उन्हें अन्त में अवश्य सफलता प्राप्त होती हे ।

सामन्तों ने जाकर भंडारी से कहा–इस विद्वान् पर महाराज बहुत प्रसन्न हैं । महाराज ने आज्ञा दी है कि इसे चार हजार मोहरें दे दी जायें । तुम इसे व्यर्थ क्यों हैरान करते हो ! महाराज इस विद्वान् पर प्रसन्न हैं, यह जान कर भण्डारी उसकी खुशामद करने लगा । उसने सोचा – कहीं

भण्डारी–जा, चल यहां से । इस तरह कहीं दो हजार मोहरें मिला करती हैं ? इतना कहने के साथ ही भंडारी ने सिपाहियों को आज्ञा दी कि इसे धक्के देकर बाहर निकाल दो ।

सिपाहियों में दया कहां ? उन्होंने अपनी आज्ञाकारिता फौरन दिखला दीय । धक्के खाकर भी विद्वान कुछ नहीं बोला । उसने सोचा–यह मार खाना भी व्यर्थ नहीं है । यह मार इन सिपाहियों की नहीं राजा की है ।

धक्के खाकर भी ब्राह्मण अपने घर नहीं गया । वह सीधा फिर राजा के पास पहुंचा । राजा ने फिर पूछा–मोहरें मिलीं ? ब्राह्मण ने भंडारी या सिपाहियों के विरुद्ध एक शब्द भी न कहते हुए यही कहा –

त्वयि वर्षति पर्जन्ये सर्वे पल्लविता द्रुमाः ।
अस्माकं कर्मवृक्षाणां पूर्वपत्रेषु संक्षयः ।।

अर्थात्–आप रूपी मेघ से तो मूसलाधार वर्षा हो रही है। जिससे वृक्ष पल्लवित हो गये हैं, जो सूखे थे वे भी हरे हो गये हैं । लेकिन मेरा कर्म–वृक्ष ही ऐसा है जिसके लिये यह वर्षा भी विपरीत फल देने वाली सिद्ध हुई । जैसे वर्षा होने पर दूसरे वृक्ष हरे–भरे हो जाते हैं किन्तु जवासा के पहले वाले पत्ते भी सूखकर गिर जाते हैं, इसी प्रकार आपकी वर्षा मेरे कर्मवृक्ष के भी पहले वाले पत्ते गिर गये हैं ।

यद्यपि ब्राह्मण ने स्पष्ट नहीं कहा कि मुझ मोहरों के बदले मार खानी पड़ी है–मुझे मिला कुछ नहीं है । लेकिन

उसके इस कथन से राजा समझ गया कि इससे कुछ नहीं मिला है यही नहीं वरन् अपमानित होना पड़ा है । यद्यपि ब्राह्मण में मस्तिष्क का भी बल था और हृदय का भी बल था। इसी कारण ब्राह्मण ऐसी बात कह सका और इसी से वह इतना धैर्य रख सका । आप भी अपने मस्तिष्कबल को अपने हृदय:बल के अधीन रखे तो बुद्धि को एकाग्र बनावें । गीता में कहा है –

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेद कुरुनन्दन !

राजा ने अपने सामन्तों को आज्ञा दी कि तुम लोग इस विद्वान् के साथ जाओ और भण्डारी से कहो कि इस ब्राह्मण को चार हजार मोहरें दे दें । इसे हैरान न करें । भण्डारी से कह देना कि इस पण्डित की परीक्षा हुई थी । इसने धैर्य दिखलाया है । इसी के बदले इसे चार हजार मोहरें दी जा रही हैं ।

सामन्त विद्वान को लेकर भण्डारी के पास गये । अब तो भंडारी को मोहरें देनी ही पडेंगी । किन्तु धैर्य के बदले में विद्वान् को मोहरें मिल रही हैं—मुफ्त में नहीं । जो समय पर धैर्य रखते हैं और परीक्षा से घबराते नहीं हैं उन्हें अन्त में अवश्य सफलता प्राप्त होती है ।

सामन्तों ने जाकर भंडारी से कहा—इस विद्वान् पर महाराज बहुत प्रसन्न हैं । महाराज ने आज्ञा दी है कि इसे चार हजार मोहरें दे दी जायें । तुम इसे व्यर्थ क्यों हैरान करते हो ! महाराज इस विद्वान् पर प्रसन्न है, यह जान कर भण्डारी उसकी खुशामद करने लगा । उसने सोचा – कहीं

ऐसा न हो कि महाराज से मरी शिकायत कर दें । विद्वान् भण्डारी का अभिप्राय समझ गया । उसने भण्डारी को आश्वासन देते हुए कहा—तुम चिन्ता मत करो । तुमने मेरा अहित नहीं, हित ही किया हैं । मैं महाराज से तुम्हारे विरुद्ध कुछ नहीं कहूंगा । पहली बार तुम मोहरें दे देते तो तुम्हें उपालम्भ मिलता कि बिना प्रमाण पाये मोहरे क्यों दे दीं ? और मुझे भी चार हजार के बदले एक ही हजार मिलती । अतएव मैं तुम्हारे प्रति असन्तुष्ट नहीं हूं । इस प्रकार भंडारी को सन्तुष्ट करके और चार हजार मोहरें लेकर विद्वान् पण्डित अपने घर चल दिये ।

मतलब यह है कि किसी और के अवगुण न देखकर अपने ही अवगुणों को देखना चाहिए और आपत्ति के समय धैर्य रखना चाहिये । यह मत सोचा कि हमने धर्म किया मगर यह न हुआ, वह न हुआ आदि । विद्वान् ने राजा पर भरोसा रखा तो उसका हित ही हुआ । इसी प्रकार अगर आप शास्त्र और भगवान् पर विश्वास रखोगे तो क्या आपका हित नहीं होगा ? अतएव हृदय को मस्तिष्क के अधीन मत करो वरन् मस्तिष्क को हृदय के अधीन बनाओ और नम्रता धारण करके सहनशील बनो । ज्यों–ज्यों आप में नम्रता आती जायेगी त्यों–त्यों आपका अधिक कल्याण होगा । परमात्मा की पूजा का यही मार्ग है । कोई इस प्रकार की पूजा मन से करता है, कोई वचन से करता है, कई कार्य से करता है और कोई मन, वचन, कर्म से करता है । कई लोग पूजा का अर्थ दूसरा करते हैं मगर भगवतीसूत्र में कहा है कि राजा श्रेणिक ने भगवान् महावीर की पूजा तीन तरह से की थी । जो मन से

पूजा करता है वह अपने मन में दुर्गुण नहीं रहने देता । वह अपनी दैवी सम्पद् से पूजा करता है । गीता में दैवी सम्पद् का वर्णन करते हुए कहा है कि अहिंसा, सत्य आदि दैवी सम्पद् में हैं । दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि हृदय का बल दैवी सम्पद् है और मस्तिष्क का बल असुरी सम्पद् है अतएव तत्कालीन लाभ न देखते हुए हृदय के बल का विकास करने की आवश्यकता है । अदृश्य शक्ति महान् शक्ति है । उस पर विश्वास रख कर दूसरे के कल्याण में अपना कल्याण मानो । धीरज रखो । दीन–हीन मत बनो । अपने आत्मबल को विकसित करो । ऐसा करने से आपको वह सम्पदा प्राप्ति होगी, जिसके सामने तीन लोक की समस्त भौतिक सम्पदा नाचीज है, तुच्छ है । कल्याणमस्तु ।०

मोरवी
3–8–38

---

० महाराज मोरवीनरेश, महाराजा सायला और राजकुमार वीरपुर की उपस्थिति में दिया गया व्याख्यान ।

3 : आत्मा और परमात्मा

श्रेयांस जिनंद सुमर रे !

यह भगवान् श्रेयांसनाथ की प्रार्थना है । आत्मा को परमात्मा के सम्मुख करने के लिए इस प्रार्थना में प्रबल प्रेरणा करते हुए कहा गया है कि–हे आत्मन् ! तू सो क्यों रहा है ! अरे तू किस मोह में पड़ा है ? तू गफलत में मत रह । परमात्मा का भजन कर ।

प्रत्येक आस्तिक मत वाला परमात्मा का भजन करने में सहमत है । मगर परमात्मा भजन के परिणाम के विषय में कुछ–कुछ मतभेद भी पाया जाता है । उस मतभेद के कारण अनेक विवादग्रस्त प्रश्न सामने आते हैं । उन सब प्रश्नों पर विस्तारपूर्वक विचार करने और उनका निराकरण करने के लिए बहुत समय की आवश्यकता है । अतएव इस संबंध में अधिक न कह कर संक्षेप में ही विचार किया जायेगा ।

कई लोगों की यह कल्पना है कि संसार में राजा और प्रजा का जो स्थान है वही परमात्मा और आत्मा का स्थान है। प्रजा, राजा की भक्ति और उपासना करके भी प्रजा ही रहेगी, वह स्वयं राजा नहीं बन सकती । इस प्रकार प्रजा प्रजा ही रहती है और राजा राजा ही रहता है । दोनों में जो भिन्नता है वह मिट नहीं सकती । परमात्मा राजा की तरह है और आत्मा प्रजा की तरह है । आत्मा परमात्मा का कितना ही

भजन क्यों न करे, वह परमात्मा बनने में सर्वदा और सर्वथा असमर्थ है । दोनों का एक रूप होना सम्भव नहीं । इस विचार से प्रेरित होकर कुछ दर्शनकारों ने ईश्वर को आत्मा की कोटि से अलग ही रखा है । उनका कहना यह है कि जिस प्रकार प्रजा राजा को भेजती है, उसी प्रकार जगत् के जीवों को परमात्मा का भजन करना चाहिए । लेकिन राजा का भजन करने वाली प्रजा, प्रजा ही रहेगी और जिसका भजन किया जाता है वह राजा ही रहेगा, उसी प्रकार परमात्मा परमात्मा ही रहेगा और आत्मा आत्मा ही रहेगी ।

गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाये और परमात्मा एवं आत्मा के असली स्वाभाविक गुणों पर ध्यान दिया जाये तो प्रतीत होगा कि यह मान्यता वास्तविक नहीं है । आत्मा का स्वरूप चेतन अर्थात् ज्ञान–दर्शन है । परमात्मा भी चेतन–स्वरूप है । परमात्मा 'सच्चिदानन्द कहलाता है । इस सच्चिदानन्द पद मे तीन गुणो का समावेश होता है – (1) सत्ता (2) चैतन्य और (3) सुख । इन तीनों गुणो में एक भी ऐसा नहीं जो आत्मा मे मौजूद न हो । जब आत्मा है तो उसमें सत्ता माननी ही पड़ेगी । आत्मा का चैतन्य गुण अनुभव से सिद्ध है । अगर आत्मा मे चैतन्यगुण स्वीकार न किया जाये तो वह जड पदार्थ बन जायेगी । फिर उसे जो संवेदन होता है वह कैसे हो सकेगा । इसी प्रकार 'आनन्द' गुण भी आत्मा में स्वाभाविक रूप से मौजूद है । आनन्द गुण आत्मा में न होता तो उसे सुख की प्रतीति कैसे होती ?

इस प्रकार हम देखते है – अनुभव करते है कि परमात्मा के सभी गुण प्रत्येक आत्मा मे स्वभावत. विद्यमान हैं।

3 : आत्मा और परमात्मा

श्रेयांस जिनन्द सुमर रे !

यह भगवान् श्रेयांसनाथ की प्रार्थना है । आत्मा को परमात्मा के सम्मुख करने के लिए इस प्रार्थना में प्रबल प्रेरणा करते हुए कहा गया है कि—हे आत्मन् ! तू सो क्यों रहा है ! अरे तू किस मोह में पड़ा है ? तू गफलत में मत रह । परमात्मा का भजन कर ।

प्रत्येक आस्तिक मत वाला परमात्मा का भजन करने में सहमत है । मगर परमात्मा भजन के परिणाम के विषय में कुछ—कुछ मतभेद भी पाया जाता है । उस मतभेद के कारण अनेक विवादग्रस्त प्रश्न सामने आते हैं । उन सब प्रश्नों पर विस्तारपूर्वक विचार करने और उनका निराकरण करने के लिए बहुत समय की आवश्यकता है । अतएव इस संबंध में अधिक न कह कर संक्षेप में ही विचार किया जायेगा ।

कई लोगों की यह कल्पना है कि संसार में राजा और प्रजा का जो स्थान है वही परमात्मा और आत्मा का स्थान है। प्रजा, राजा की भक्ति और उपासना करके भी प्रजा ही रहेगी, वह स्वयं राजा नहीं बन सकती । इस प्रकार प्रजा प्रजा ही रहती है और राजा राजा ही रहता है । दोनों में जो भिन्नता है वह मिट नहीं सकती । परमात्मा राजा की तरह है और आत्मा प्रजा की तरह है । आत्मा परमात्मा का कितना ही

भजन क्यों न करे, वह परमात्मा बनने में सर्वदा और सर्वथा असमर्थ है । दोनों का एक रूप होना सम्भव नहीं । इस विचार से प्रेरित होकर कुछ दर्शनकारों ने ईश्वर को आत्मा की कोटि से अलग ही रखा है । उनका कहना यह है कि जिस प्रकार प्रजा राजा को भेजती है, उसी प्रकार जगत् के जीवों को परमात्मा का भजन करना चाहिए । लेकिन राजा का भजन करने वाली प्रजा, प्रजा ही रहेगी और जिसका भजन किया जाता है वह राजा ही रहेगा, उसी प्रकार परमात्मा परमात्मा ही रहेगा और आत्मा आत्मा ही रहेगी ।

गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाये और परमात्मा एवं आत्मा के असली स्वाभाविक गुणों पर ध्यान दिया जाये तो प्रतीत होगा कि यह मान्यता वास्तविक नहीं है । आत्मा का स्वरूप चेतन अर्थात् ज्ञान–दर्शन है । परमात्मा भी चेतन–स्वरूप है । परमात्मा 'सच्चिदानन्द कहलाता है । इस सच्चिदानन्द पद में तीन गुणों का समावेश होता है – (1) सत्ता (2) चैतन्य और (3) सुख । इन तीनों गुणों में एक भी ऐसा नहीं जो आत्मा में मौजूद न हो । जब आत्मा है तो उसमें सत्ता माननी ही पड़ेगी । आत्मा का चैतन्य गुण अनुभव से सिद्ध है । अगर आत्मा में चैतन्यगुण स्वीकार न किया जाये तो वह जड़ पदार्थ बन जायेगी । फिर उसे जो संवेदन होता है वह कैसे हो सकेगा ! इसी प्रकार 'आनन्द' गुण भी आत्मा में स्वाभाविक रूप से मौजूद है । आनन्द गुण आत्मा में न होता तो उसे सुख की प्रतीति कैसे होती ?

इस प्रकार हम देखते हैं – अनुभव करते हैं कि परमात्मा के सभी गुण प्रत्येक आत्मा में स्वभावतः विद्यमान है।

जब दोनों में समान गुण हैं तो दोनों को मूलतः पृथक् कैसे किया जा सकता है ? एक वस्तु से दूसरी वस्तु की भिन्नता गुणों में भेद होने के कारण ही होती है । जैसे जड़ और आत्मा के गुणों में भेद है, अतः इन दोनों को भिन्न–भिन्न मानना पड़ता है । लेकिन आत्मा और परमात्मा के गुणों में ऐसा कोई अन्तर नहीं है । ऐसी स्थिति में दोनों में मौलिक भेद नहीं हो सकता ।

आत्मा और परमात्मा में अगर जड़ और आत्मा की तरह मौलिक भेद होता तो परमात्मा, आत्मा के लिए आराध्य नहीं होता । जब आत्मा स्वयं परमात्मा बन ही नहीं सकती तो फिर परमात्मा का आदर्श आत्मा को अपने सामने रखने की आवश्यकता ही क्या है ? तब तो परमात्मा का रास्ता जुदा और आत्मा का रास्ता जुदा होता ।

कहा जा सकता है कि अगर आत्मा और परमात्मा के गुण समान है और दोनों एक ही कोटि में हैं तो फिर दोनों में अन्तर नहीं होना चाहिए । फिर परमात्मा आराध्य और आत्मा आराधक क्यों ? इस प्रश्न का उत्तर मैं अपने अनेक व्याख्यानों में दे चुका हूं । यहां भी संक्षेप में कहता हूं । बात वास्तव में यह है कि आत्मा और परमात्मा के गुणों में मूलतः कोई अन्तर न होने पर भी दोनों के गुणों के विकास में अन्तर है । परमात्मा वह है जिसके समस्त स्वाभाविक गुण अपनी पूर्णता पर पहुंच गये हैं और आत्मा के गुण कर्म–विकारों से आच्छादित है । इस प्रकार आत्मा और परमात्मा में वास्तविक अन्तर न होने पर भी उपाधि के कारण अन्तर है । यह अन्तर अस्वाभाविक है, इसीलिये मिटाया जा सकता है और इसी को मिटाने के

सकता । अतएव आदर्श को अपने सामने रखकर परमात्मा बनने का प्रयत्न करना चाहिये । प्रयत्न करने पर कभी न कभी सिद्धि होगी ही । कहा भी है –

अनेकजन्मसंसिद्धिस्ततो याति परां गतिम् ।

इस बात को ध्यान में रखकर प्रयत्न करते जांना चाहिए, जिससे आत्मा कभी परमात्मा बन सके । प्रयत्न किस प्रकार करते रहना चाहिये और भावना कैसी रखनी चाहिये, इस बात को समझाने के लिये एक आदर्श आपके सामने रखता हूं । युवराज० को तो इस आदर्श पर खासतौर से विचार करना चाहिए, क्योंकि यह आदर्श क्षत्रियों का है और युवराज भी क्षत्रिय हैं । क्षत्रिय शब्द का अर्थ इस प्रकार किया जाता है –

क्षतात्–नाशात् त्रायते इति क्षत्रः, तदस्यास्तीति क्षत्रियः।

जो विपत्ति में पड़े नष्ट हो रहे हैं, उनकी रक्षा करना क्षत्रियधर्म हैं और जो इस धर्म को धारण करता है उसे क्षत्रिय कहते हैं । क्षत्रिय में वीरता होती है । वीरता के तीन प्रकार हैं – (1) रजोगुणी वीरता (2) सतोगुणी वीरता और (3) तमोगुणी वीरता । कई लोगों का कहना है कि शराब पीने से वीरता आती है, मगर इस तरह आई हुई वीरता तमोगुणी वीरता है । क़इयों का कहना है कि हथियार रखना ही चाहिये । जो हथियार न रखे वह कैसा वीर ! किन्तु हथियार

---

० मोरबी के महाराजकुमार इस व्याख्यान में उपस्थित थे ।

कोई आनन्द है; तभी तो राजा से संसार नहीं छोड़ा जाता ! और इसी कारण राम के योग्य हो जाने पर भी राजपाट उन्हें नहीं सौंपते हैं !

आप लोग अपनी सन्तान के सामने क्या आदर्श उपस्थित करते हैं ? अगर आप संतान के सामने त्याग का आदर्श रखेंगे तो संतान भी त्यागशील बनेगी । इसके विपरीत अगर आप स्वयं संसार को ज्यादा पकड़े रहे तो संतान का ज्यादा पकड़ना स्वाभाविक ही है ।

सफेदबाल को निवृत्ति के लिये सूचना रूप मानकर राजा दशरथ ने सवेरे ही अपने सलाहकारों को एकत्र किया और कहा–यह सफेद बाल मुझे निवृत्त होने की सूचना दे रहा है–अतएव मैं चाहता हूं कि अगर आप लोग सहमत हों तो कल ही राम को राज्य सौंपकर राज्य–काज से निवृत्त हो जाऊ ।

राजा ने जो कुछ कहा व किसे नापसंद हो सकता था? सभी चाहते थे कि राम राजा हों । लोगों के मनोरथ रूपी बेल के लिए राजा का कथन आधारभूत हो गया । सब ने एक स्वर से राजा की बात का समर्थन किया । राजा ने राज्याभिषेक की तैयारी करने का आदेश दे दिया और अगला दिन अभिषेक के लिए नियत कर दिया ।

पहले के जमाने में, राज्याभिषेक या विवाह आदि के अवसरों पर आजकल की तरह आडम्बर नहीं होता था । अतएव तैयारी में अधिक समय भी नहीं लगता था । प्रायः एक ही दिन में सारा काम निपटा दिया जाता था । इसी कारण

राजा दशरथ ने कहा कि सब तैयारी करली जाये । और कल सवेरे ही राम को राज्य दे दिया जाये । इधर सुर्य निकलेगा, उधर रामचन्द्र राजसिंहासन पर बैठेंगे ।

रामचन्द्र के राज्याभिषेक का समाचार सारे नगर में फैल गया । रामचन्द्र के मित्र इस समाचार से फूले न समाये। कोई सोचने लगे—अब हमारी पांचों उंगलियां घी में हैं । कोई कहने लगा—हमारी सात पीढ़ियों की दरिद्रता अब दूर हो जायेगी । स्वार्थी लोग ऐसे—ऐसे कारणों से ही बड़ों के साथ मित्रता रखते हैं । राम के ऐसे मित्र सोचने लगे—मैं सबसे पहले पहुंच कर बधाई दूं तो मेरी विशेषता है !

इस प्रकार सोचकर वे राम के पास पहुंचे । उस समय राम किसी गम्भीर चिन्ता में डूबे थे । वे अपने कर्त्तव्य के विषय में विचार कर रहे थे । वे सोच रहे थे कि आखिर मेरे जीवन का उद्देश्य क्या है ? मैं राजसिंहासन को अलंकृत करूं या जनता की सेवा करूं ? राजसत्ता द्वारा जनता का कोई विशेष उपकार नहीं हो सकता । जन साधारण के उपकार के लिए योगसत्ता अपेक्षित है । लेकिन मुझे कौनसे मार्ग का अवलम्बन करना चाहिये ?

रामचन्द्र जब विचारों की तरंगों में बहते—बहते स्थिर न हो पाये तो उन्हें सीता का ध्यान आया । सीता से कहने लगे—सीता तुम मेरी धर्मपत्नी हो और राज्य करते हुए ,भी आध्यात्मिकज्ञान रखने वाले महाराज जनक की पुत्री हो । अतएव मैं तुमसे परामर्श चाहता हूं । कहो मेरे जीवन का लक्ष्य क्या होना चाहिये ?

सीता के बदले दूसरी कोई होती तो चटपट उत्तर देती–'प्राणनाथ राजा बन कर आनन्द भोगो और मेरे लिये ऐसे–ऐसे जेवर बनवादो !' लेकिन सीता तो सीता ही थी उसने नम्रतापूर्वक कहा–स्वामिन्, मैं आपकी दासी हूं । मैं आपके सम्बन्ध में क्या कह सकती हूं ? फिर भी इतना निवेदन अवश्य करूंगी कि आप जैसे असाधारण पुरुष के द्वारा कोई असाधारण–अलौकिक कार्य होना ही चाहिये जिससे आपके आदर्श को सम्मुख रखने से जनता का कल्याणमार्ग सरल हो जाये । जगत् में इस समय अधर्म फैला हुआ है । जनता में धर्मजागृति उत्पन्न करने योग्य कोई कार्य हो तो अच्छा है ।

राम ने अपनें जीवन का ध्येय निश्चित करने के लिये सीता से सलाह ली थी । क्या आप भी कभी अपनी पत्नी से इस प्रकार सलाह लिया करते हैं ? अगर आपके विचार राम के समान उदार हों और आपकी पत्नी सीता के समान आपकी सहायिका बने तो इस संसार में सीता और राम के अनेक जोड़े दृष्टिगोचर होने लगें ।

सीता का विचार सुन लेने के पश्चात् राम ने लक्ष्मण के सामने भी वही समस्या उपस्थित की । लक्ष्मण बोले मैं और कुछ नहीं जानता सिर्फ आपकी आज्ञा जानना चाहता हूं । आपको सलाह देने की योग्यता मुझ में नहीं है । फिर भी आपने पूछा है तो यह निवेदन करना चाहता हूं कि सांसारिक प्रवृत्तियों में तो सभी फंसे रहते हैं । आपके द्वारा कोई [illegible] कार्य ही होना योग्य है । आपके हाथों जगत [illegible]

कार्य न हुआ तो फिर किसके हाथ से होगा ।

इस प्रकार सीता और लक्ष्मण की सम्मति लेकर रामचन्द्र ने निश्चय किया कि कल पिताजी से निवेदन कर देना चाहिये कि मैं निवृत्ति में ही रहना चाहता हूं मैं राज्य संबंधी झंझटों में नहीं फंसना चाहता ।

इधर राम ने यह सोचा और उधर उनके मित्र आ धमके। मित्रों ने उन्हें प्रसन्नता के साथ बधाई दी । रामचन्द्र ने बधाई के उत्तर में कहा—मैं राज्यबल ग्रहण नहीं करना चाहता । मेरी इच्छा योगबल प्राप्त करने की है । राज्य संभालने के लिये तो मेरे दूसरे भाई हैं ही । मैं राज्य लेकर क्या करूंगा ? आश्चर्य है कि दूसरे भाइयों के होते हुए पिताजी ने मुझे राज्य देने का विचार क्यों किया ?

विमल यंश बड़ अनुचित एकू ।
बन्धु विहाय बड़ेहिं अभिषेकू ।

इस निर्मल वंश के लिये एक मात्र कलंक की बात । यही है कि छोटे भाइयों के होते हुए भी बड़े को राज्य दिया जाता है । राज्य तो छोटे को दिया जाना चाहिये ।

राम का यह विचार क्या आपको पसन्द आता है ? चाहे आप पसंद करें या न करें, मगर धर्म का मार्ग त्याग और उदारता ही है । कहा भी है –

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुने ।।

अर्थात्–जगत् में फंसे हुए लोग जिसे अंधकार कहते हैं; ज्ञानीजन उसे प्रकाश कहते हैं और जगत् के लोग जिसे प्रकाश मानते हैं, योगी उसे अंधकार समझते हैं ।

इस प्रकार सर्वसाधारण में और ज्ञानियों में भेद है । जब तक मस्तिष्क में और हृदय में भिन्नता रहेगी तब तक ज्ञानियों में और आपमें भिन्नता रहना स्वाभाविक है । जब आप मस्तिष्क को हृदय के अधीन कर लेंगे तो बहुतेरे विवाद स्वतः शांत हो जायेंगे ।

राम का कथन सुनकर उनके मित्र सोचने लगे – यह अद्‌भुत वात है । राज्य के अधिकारी आप है । छोटे भाई राज्य कैसे पा सकते हैं ?

राम ने कहा–यह ठीक है कि मैं बड़ा हूं और इसी कारण यह भी ठीक है कि राज्य मुझे नहीं मिलना चाहिये । बड़प्पन लेने में नहीं.देने में हैं ।

राम के कुछ मित्रों ने समझा, राम में आज पागलपन आ गया है ! इनसे भविष्य में क्या आशा की जा सकती है ! अतएव वे निराश होकर धीरे–धीरे खिसक गये । कुछ सरल हृदय मित्र बैठे रहे । उन्होंने कहा–आपके विचार अतिशय उदात्त हैं । मानवीय बुद्धि जिस ऊंचाई पर पहुंच नहीं सकती उस पर आप अनायास ही जा पहुंचे हैं । निस्संदेह आप असाधारण पुरुष हैं और आपके द्वारा जगत् का महान् कल्याण होगा ।

राम ने कहा–मुझे प्रसन्नता है कि मेरे विचार

समझ में सही है । देखना तो यह है कि मेरे विचार क्रियान्वित होंगे या नहीं !

प्रातःकाल होने पर रामचन्द्रजी प्रति दिन की भांति पिता को प्रमाण करने गये । वहां देखा कि सारा मामला ही बदल गया है । रानी कैकेयी ने किस प्रकार वरदान मांगा यह बात प्रसिद्ध है ।० महाराज दशरथ को इस मांग के कारण ऐसा धक्का लगा कि वे बेहोश हो गये । उसी समय रामचन्द्र वहां पहुंचे । पिता को मूर्छित देख राम सोचने लगे–मेरे होते हुए पिता को किसी प्रकार का कष्ट होना मेरे लिये कलंक की बात है । यह सोच कर उन्होंने पिता को आवाज दी । आवाज सुनकर दशरथ ने आंखें खोली और राम को देख कर फिर बन्द कर लीं । राम ने सोचा–पिताजी को कोई बहुत बड़ा आघात लगा जान पड़ता है । उन्होंने अपनी दृष्टि पीछे फेरी तो वहां कैकेयी बैठी दिखाई दी । राम ने उसे प्रमाण किया । वह बोले माता, मैंने अभी तक आपको देखा नहीं था और इसी कारण प्रमाण नहीं किया मेरी भूल के लिये क्षमा कीजिये । मैं यह जानना चाहता हूं कि पिताजी आज दुःखी क्यों है ?

राम का कथन सुनकर कैकेयी ने रुखाई के साथ कहा–राम तुम मिष्टभाषी हो और तुम्हीं क्यों, तुम्हारे पिता और तुम्हारी माता ने भी मीठा बोलना खूब सीखा है परन्तु मैं अब मीठी बोली के भुलावे में आने वाली नहीं हूं ।

०विस्तार के लिए देखो जवाहर किरणावली भाग 14–15 राम वनगमन प्रथम और द्वितीय भाग ।

यह अप्रत्याशित उत्तर सुनकर राम को बहुत दुःख हुआ। वह कहने लगे—माताजी, आपने किस आशय से यह बात कही है ? मैं अपना अनिष्ट करने वाले के प्रति भी कटुक भाषण नहीं कर सकता । फिर आप तो मेरी माता हैं । आपसे कटुक बात कैसे कह सकता हूं ? आपके कहने से मालूम होता है कि आपके सामने मेरा मीठा बोलना आपको भुलावे में डालना है । मगर ऐसा समझना भ्रम है । आप किसी भी समय मेरी परीक्षा करके देख लीजिये कि क्या मैं आपको भुलावे में डालने के लिए मीठा बोल रहा हूं ।

कैकेयी ने कहा—अच्छा, तुम बताओ कि महाराज ने मुझे जो वर दिया था उसे मांगने का अधिकार मुझे है या नहीं? और मैं अपनी इच्छा के अनुसार वर मांग सकता हूं या नहीं ?

राम—हां आपको वर मांगने का अधिकार है और आप अपनी इच्छा के अनुसार ही वर मांग सकती है ।

कैकेयी—मेरे वर मांगने के कारण ही महाराज मूर्छित हो गये हैं । तुम पूछलो कि इन्होंने मुझे वर मांगने के लिए कहा था या नहीं ? और इनके कहने से ही मैंने यह वर मांगा है या नहीं ? जब इनके कहने से ही वर मांगा है तो मैं कोई तुच्छ चीज तो क्या मांगती ? मैंने भरत के लिय राज्य मांगा है । लेकिन महाराज भरत को शायद इस योग्य नहीं समझते। सम्भव है कोई दूसरा कारण भी हो । इसी से महाराज मूर्छित भी हो गये हैं । मैंने यह भी कह दिया कि आप कह दीजिये। मैंने धर्म छोड़ा। पर वे ऐसा भी नहीं कहते और दुःख मान

हैं ।

कैकेयी का यह स्पष्टीकरण सुनकर राम प्रसन्न हुए । वह सोचने लगे–किसी अदृश्य शक्ति के प्रभाव से ही माता ने यह वर मांगा है । इसकी पूर्ति होने से मेरा वह लक्ष्य सहज ही पूरा हो जायेगा, जिसके संबंध में मैंने कल निश्चय किया था ।

अदृश्य शक्ति किस प्रकार अपना काम करती है, यह बात ध्यान में रखनी चाहिये । आप यहां बैठें हैं । आपके लिये घर पर क्या भोजन बन रहा है, आपको पता नहीं है । फिर भी उस भोजन के बनने में आपकी अदृश्य शक्ति काम कर रही है । अतएव अदृश्य शक्ति पर भी विश्वास रखना चाहिये।

कैकेयी का कथन सुनकर राम ने कहा–

सुन जननी सोई सुत बड़ भागी, जो पितु–मातु चरण अनुरागी।
तनय मात–पितु पोषनहारा, दुर्लभ जननि यही संसारा ।।
भरत प्राणप्रिय पावहिं राजू, विधि सब विधि सन्मुख मोहिं आजू।
जो न जाउं बन ऐसे हु काजा, प्रथम गनिय मोहिं मूढ़ समाजा।।

राम कहते हैं–माता, यह वर मांग कर आपने मुझे भाग्यशाली बनाने का प्रयत्न किया है । माता कौशल्या ने तो मुझे जन्म ही दिया है, लेकिन आप मेरा उत्थान कर रही हैं। माता–पिता की आज्ञा का पालन करना पुत्र का धर्म है । जो ऐसा करते है वे अवश्य ही सद्भागी हैं । फिर आपकी यह आज्ञा तो मेरी इच्छा के अनुकूल ही है ।

क्या आजकल के लड़के भी माता–पिता के वचन का

से उऋण होना कठिन है ।

राम कैकेयी से कहते है।–आपने मेरा हित ही किया है। एक वात मुझे अतिशय प्रसन्नता देने वाली है । वह यह है कि मेरे प्राणप्रिय भ्राता भरत को राज्य मिलेगा । मैं भरत के राज्य को सब प्रकार से निष्कंटक और प्रभाव शाली बनाने के लिये अवध का त्याग करके प्रसन्नतापूर्वक वन–वास करूंगा। मैं ऐसे काम के लिये भी अगर वन न जाऊंगा तो परले सिरे का मूढ़ गिना जाऊंगा ।

आज क्या छोटे के सुख के लिए बड़ा दुःख भोगता है? अगर कोई बड़ा होकर भी छोटे के लिये दुःख नहीं भोगता तो वह बड़ा काहेका है ! वह तो वैसा ही बड़ा है जैसा घोड़े का पूछड़ा बड़ा होता है !

कैकेयी–राम तुम्हारी बातों में मिठास तो बहुत है, मगर सच्चाई कितनी है, यह तो समय आने पर ही मालूम होगा ।

राम चिन्ता मत करो मां, मैं अभी अपनी बातों की सच्चाई प्रकट कर दूंगा । आप थोड़ी देर के लिये अलग हो जाइये, जिससे मैं पिताजी को समझा सकूं ।

राम का कहना मान कर कैकेयी वहां से हट गई । राम ने पिता को जागृत करके कहा–पिताजी, आप दुःख क्यों मना रहे हैं ? माता के मन में जो भेद–भाव आया है वह उत्पन्न तो आपने ही किया है । आपके लिये मैं और भरत उसी प्रकार समान हैं जिस प्रकार दोनों नेत्र समान हैं । लेकिन आपके चित्त में हम दोनों को लेकर भेद–भाव उत्पन्न

वह सेना कभी विजयी नहीं हो सकती जो बिना सोचे समझे अपने सेनापति की आज्ञा का पालन नहीं करती । सेना को यह नहीं देखना चाहिये कि आज्ञा उचित है या नहीं ? उसका एकमात्र कर्त्तव्य आज्ञा का पालन करना है । खेद है कि आजकल हमारे देश में उच्च श्रेणी के अनुशासन की बहूत कमी है । अनुशासन के अभाव में कोई भी देश, समाज या वर्ग उन्नति नहीं कर सकता । अधिकारी का कर्त्तव्य है कि वह अपनी बुद्धि को जागृत रखे और सोचे कि कहां कितने अनुशासन की आवश्यकता है; पर जिन्हें अनुशासन का पालन करना है उन्हें तो पालन करना ही चाहिये । पहले भारत वर्ष में यह माना जाता था कि जिन्हें हमने बड़ा माना है उनकी आज्ञा हमारे लिये पालनीय है ।

राम कहते हैं- 'माता संसार में पुत्र तो बहुत होते हैं लेकिन माता–पिता की आज्ञा का पालन करने वाला पुत्र विरला ही होता है ।

इस प्रकार का पुत्र उन्हीं माता–पिता को प्राप्त होता है जिन्होंने पूर्व जन्म में अच्छा तप किया हो । पुण्य के उदय से ही धार्मिक पुत्र की प्राप्ति होती । जो माता पिता नीम के समान हैं वे आम के समान पुत्र कैसे पा सकते हैं ? आम सरीखा पुत्र खाने के लिये खुद को आम के समान बनाना चाहिये ।

सारांश यह है कि पुत्र को माता–पिता की आज्ञा पालनी ही चाहिये, क्योंकि उनका पुत्र पर महान् उपकार है । ठाणांगसूत्र में कहा कि पिता माता और धर्माचार्य के उपकार

से उऋण होना कठिन है ।

राम कैकेयी से कहते है।–आपने मेरा हित ही किया है। एक वात मुझे अतिशय प्रसन्नता देने वाली है । वह यह है कि मेरे प्राणप्रिय भ्राता भरत को राज्य मिलेगा । मैं भरत के राज्य को सब प्रकार से निष्कंटक और प्रभाव शाली बनाने के लिये अवध का त्याग करके प्रसन्नतापूर्वक वन–वास करूंगा। मैं ऐसे काम के लिये भी अगर वन न जाऊंगा तो परले सिरे का मूढ़ गिना जाऊंगा ।

आज क्या छोटे के सुख के लिए बड़ा दुःख भोगता है? अगर कोई बड़ा होकर भी छोटे के लिये दुःख नहीं भोगता तो वह बड़ा काहेका है ! वह तो वैसा ही बड़ा है जैसा घोड़े का पूछड़ा बड़ा होता है !

कैकेयी–राम तुम्हारी बातों में मिठास तो बहुत है, मगर सच्चाई कितनी है, यह तो समय आने पर ही मालूम होगा ।

राम चिन्ता मत करो मां, मैं अभी अपनी बातों की सच्चाई प्रकट कर दूंगा । आप थोड़ी देर के लिये अलग हो जाइये, जिससे मैं पिताजी को समझा सकूं ।

राम का कहना मान कर कैकेयी वहां से हट गई । राम ने पिता को जागृत करके कहा–पिताजी, आप दुःख क्यों मना रहे हैं ? माता के मन में जो भेद–भाव आया है वह उत्पन्न तो आपने ही किया है । आपके लिये मैं और भरत उसी प्रकार समान हैं जिस प्रकार दोनों नेत्र समान हैं । लेकिन आपके चित्त में हम दोनों को लेकर भेद–भाव उत्पन्न

हुआ । इसी से आपने मुझे राज्य देने का विचार किया । आपके मन के भेद–भाव ने ही माता के मन में भेद–भाव उत्पन्न किया है । खैर जो हुआ सो अच्छा ही हुआ है, यह मानकर आप उठिये और चिन्ता न कीजिये । आपको चिन्ता तो मेरे लिये ही है न, लेकिन जब मुझे ही चिनता नहीं है तो आपको चिन्ता करने की क्या आवश्यकता है ?

रेडियम धातु बहुत मूल्यवान् मानी जाती है । कहा जाता है कि उसकी एक कणी भी बहुत से रोग मिटा सकती है जिसकी एक कणी भी ऐसी है, उसका पहाड़ अगर किसी को मिल जाये तो कितनी प्रसन्नता की बात हो ? राम का यह अनूठा चरित रेडियम के पहाड़ के समान है । अगर आप इस सारे पहाड़ को अपना सकें तब तो कहना ही क्या है ! अगर यह संभव न हो और इसमें से एक कणी भी ग्रहण करलें तब भी इहलोकिक और पारलोकिक कल्याण हो सकता है । आपने रामचरित में से थोड़ा सा भी अंश ग्रहण किया है, इसी बात की साक्षी यह है कि आपको किसी भी प्रकार के झगड़े के कारण कचहरो में न जाना पड़े और किसी भी रोग के कारण अस्पताल में पैर न रखना पड़े । साथ ही जब आपके हृदय का मैल दूर हो जाये और आप तप–त्याग को अपनावें तभी यह जाना जा सकता है कि आपने राम के चरित्र से कोई शिक्षा ली है ।

राम का कथन सुन कर दशरथ चकित रह गये । मन ही मन वह कहने लगे राम के व्यक्तित्व की ऊंचाई का पता आज लगा ! यह तो वन में जाने में भी कष्ट नहीं समझते !

आज ही मुझे मालूम हुआ कि राम साधारण मनुष्य नहीं है ।

राम माता–पिता आदि को समझाकर वन–वास के लिये चल दिये । रावण को जीत लेने के बाद वह अवध में लौटे । इस बीच राज्य का संचालन भरत करते रहे, मगर राम के दास बन कर । भरत अपने को राजा नहीं समझते थे किन्तु राम का दास मानकर, राम का स्मरण करते हुए, राम की ओर से राज्य का कार्य चलाते थे । राम ने आकर जब प्रजा की कुशल पूछी तो प्रजा कहने लगी–आपके वियोग का दुःख तो था ही लेकिन जहां तक राज्य व्यवस्था का प्रश्न है, वहां तो भरत आपसे कुछ कम नहीं निकले । भरतजी ने आपका स्मरण करके राज्य चलाया है, अतएव राज्य की संपदा भी दस गुनी हो गई है और प्रजा भी सकुशल है ।

मैं युवराज से कहता हूं कि यह चरित आपके लिये विशेष रूप से उपयोगी है । इसे याद रखिये । राम के चरित को याद रख कर राज्य करने वाला पाप नहीं करेगा । अतएव सदा राम को स्मरण रखो और अपने धर्म का पालन करो । इसी में सबका कल्याण है ।

---

4 : विपत्ति बनाम सम्पत्ति

प्रणमूं वासुपूज्य जिन नायक, सदा सहायक तू मेरा !

यह भगवान् वासुपूज्य की प्रार्थना है । इस प्रार्थना में प्रकट किये गये भावों को वही समझ सकता है जो पूरी तरह प्रार्थना करता है या जिसने प्रार्थना की हो । ऐसा ही व्यक्ति प्रार्थना के भावों के विषय में कुछ कह सकता है । प्रार्थना के सम्बन्ध में कहना बहुत चाहता हूं मगर इतना समय कहां ? अतएव संक्षेप में ही अपने विचार प्रदर्शित करता हूं ।

इस प्रार्थना में आत्मा की नोंध है । साथ ही इसमें यह भी बताया गया है कि आपके पास कौन–कौन सी चीजें हैं ? अर्थात् आपकी तिजोरी में जो चीजें हैं, इस प्रार्थना में उनकी नोंध की गई है । आप अपनी चीजों को देखकर यह विश्वास कर सकते हैं कि यह नोंध कैसी सच्ची है । तिजोरी को संभालने पर इस नोंध की सच्चाई आपको स्वतः विदित हो जायेगी ।

इस प्रार्थना में कहा गया है कि संसार में प्रधानतः तीन प्रकार के दुःख है । फिर उनके अन्तर्गत अनेक दुःख है । जैसे–रोग चोर, आग राजा या अन्य कारणों से उत्पन्न होने वाले दुःख नाना प्रकार के हैं । लोग भ्रमवश इन दुःखों को बाहर से आया हुआ मानते हैं; लेकिन ज्ञानी कहते हैं कि वास्तव में इनका बीज आत्मा में ही विद्यमान रहता है । उसी

कहा जा सकता है कि दुःखों को कोई नहीं बुलाना चाहता । दुःख तो बिना बुलाये आप ही गले पड़ जाते हैं । ऐसा कहने वालों ने गहरा विचार नहीं किया । अपथ्य का सेवन करने से रोग उत्पन्न होते हैं और रोग दुःख हैं । अगर कोई मनुष्य जान–बूझ कर अपथ्य का सेवन करता है तो क्या वह दुःख को आमन्त्रण नहीं देता ? ऐसा मनुष्य किस मुंह से कह सकता है कि मैंने दुःखों को बुलाया नहीं है ? कुपथ्य का परहेज रखने से जो बीमारी आई है वह बुलाने से ही आई है। इसी बात को जरा और आगे बढ़ाकर देखिये–आध्यात्मिक दृष्टि से जो दुःख के कारण न उनका सेवन करना क्या दुःख बुलाना नहीं है ? काम, क्रोध, लोभ और मोह आदि दुःख के कारण है । आसुरी प्रकृति को अपने अन्तःकरण में स्थान देना दुःख को निमन्त्रण देना है । जब आत्मा काम क्रोध आदि विकारों के अधीन हो तो सोचना चाहिये कि मैं स्वयं दुःखों को आमन्त्रित कर रहा हूं । इस प्रकार जो भी दुःख आये हैं वे आत्मा द्वारा आमन्त्रि.त होकर ही आये हैं ! फिर उनके आने पर रोने की आवश्यकता क्या है ! जो आदमी पहले किसी को बुलाता है और जब वह आ जाता है तो रोने बैठ जाता है, उस आदमी को क्या कहा जायेगा ? जो विपत्ति बुलाने पर ही आई है, उसके आने पर रोना क्यों ? जब विपत्तिं बुला ली है और वह आ गई है तो रोने से कोई लाभ नहीं हो सकता । विपत्ति आने पर यही सोचना चाहिये कि इस विपत्ति को सम्पत्ति के रूप में परिणत कर देना ही मेरे लिये श्रेयस्कर है । इसी में मेरी भलाई है । जो पुरुष अपने ऊपर आये दुःख को सुख के रूप में परिणत कर देता है और उससे लाभी उठाता है, वह दुःखों पर विजयी होता है ।

मैं जो कह रहा हूं, उस पर आप विचार कीजिये । आपकी समझ में आ जाये और आपका हृदय उसे स्वीकार करे उसे अमल में लाइये । आपमें से बहुत–से लोग भक्ति के वश होकर ही मेरा बात मान लेते हैं लेकिन कई लोग जेसे दीवान साहब तो परीक्षा करके ही मानने वाले हैं । भक्ति के अधीन होकर मेरी बात मानने वालों से मैं कहना चाहता हूं कि आप लोग भी सिर्फ भक्ति से प्रेरित होकर ही मेरी बात न मानें किन्तु सोचें कि जो मैं कह रहा हूं उसमें सत्य है या नहीं ? अगर आपको मेरे कथन में सत्य प्रतीत हो तो आप उसे स्वीकार करें । हां, जब आपको पूर्ण विश्वास हो जाये कि मेरी कही बात सत्य है तो उसका पालन करने के लिये आवश्यकता हो तो सर्वस्व समर्पण कर दो । जहां विश्वास हो जाता है वहां प्राण भी समर्पण कर दिये जाते हैं, तो फिर दूसरी वस्तुओं का तो कहना ही क्या है ! भक्तों को परमात्मा पर विश्वास हो गया है, इसी कारण वे कहते हैं –

तन धन प्राण समर्पी प्रभु ने ।
इन पर वेग रिझास्यां राज ।।
आज म्हारा संभव जिनजी रा ।
हित चित से गुण गास्यां राज ।।

इस प्रकार विश्वास करके कुर्बानी के लिये तैयार रहना चाहिए ।

प्रकृत में कहना यह है कि जो विपत्ति आती है वह आपकी बुलाई हुई ही आती है; इस तथ्य की नोंध इस प्रार्थना

में की गई है और साथ ही यह बतलाया गया है कि जो विपत्ति तुम्हारी बुलाई हुई ही आई है, उसे सम्पत्ति बनाओ। विपत्ति को सम्पत्ति बना लेने का उपाय है विपत्ति से नहीं घबराना। किसी भी क्षण मत भूलो कि यह विपत्ति मेरी ही बुलाई हुई है। यह याद रख कर विपत्ति में भी प्रसन्न रहो। ऐसा करने पर आप विपत्ति को सम्पत्ति बना सकेंगे।

मैं जो बात कह रहा हूं उसे शास्त्र का समर्थन प्राप्त है। शास्त्रानुसार जब सोमल ब्राह्मण ने गजसुकुमार मुनि के मस्तक पर आग रख दी थी, उस समय क्या गजसुकुमार मुनि यह मानते थे कि सोमल ने, यह आग रख दी है ? नहीं। वे सोचते थे कि यह आग मेरे आकर्षण और आमन्त्रण से आई है। मगर मैं भगवान् अरिष्टनेमि का सच्चा शिष्य हूं तो इस विपत्तिं को सम्पत्ति बना लेना मेरा कर्त्तव्य है। ऐसा करके ही मैं भगवान् का सच्चा शिष्य बन सकूंगा। इस प्रकार सोचकर उन्होंने सोमल को तनिक भी दोष नहीं दिया। अतः विपत्ति उनके लिए सम्पत्ति बन गई। उसी विपत्ति के द्वारा वे सिद्धि प्राप्त कर सके।

मित्रो ! मैं कहता रहूं और आप सुनते रहें, यह पर्याप्त नहीं है। जो सुना है उसकी सत्यता पर विश्वास जमाकर उसे अमल में लाना आवश्यक है। सुनते–सुनते तो बहुत दिन हो गये हैं। गजसुकुमार ने एक ही दिन उपदेश सुना था। एक दिन उपदेश सुनते ही वह विरक्त हो गये और दीक्षित हो गये। उन्होंने तत्काल भगवान् के उपदेश को क्रियारूप में परिणत कर लिया। उसी दिन उन्होंने विपत्ति को अपनी लोकोत्तर भावना के विशिष्ट मंत्र द्वारा सम्पत्ति के

रूप में पलट दिया और अपना परम उद्देश्य सफल कर लिया। मगर आपको सुनते–सुनते बहुत समय हो गया है। फिर भी क्या आप कटुक शब्दों को भी मधुर नहीं बना सकते? आप सदैव ध्यान रखिये कि परमात्मा सदा सहायक है। हां, हम में विपत्ति को सम्पत्ति बना लेने की शक्ति होनी चाहिये और साथ ही परमात्मा पर विश्वास होना चाहिये।

विपत्ति को सम्पत्ति बनाने के लिये यह आवश्यक है कि विपत्ति आने पर उसे पीठ नहीं दिखानी चाहिये बल्कि आँख दिखनी चाहिये और उसका सामना करना चाहिये। मुझे संसार से निकलने का मार्ग दिखलाने वाले और मेरे परमोपकारी मुनि श्री घासीराम जी महाराज ने अपनी संसारावस्था की एक घटना सुनाई थी। वह इस प्रकार है। उन्होंने कहा जब मैं संसार में था तो एक बार जंगल में करौंदा खाने गया। वहां एक बाघ से भेंट हो गई। मैंने सुन रक्खा था कि बाघ की दृष्टि से अपनी दृष्टि मिला देने पर बाघ आक्रमण नहीं करता। मैंने ऐसा ही किया। कुछ देर तक तो बाघ मेरे सामने खड़ा रहा, लेकिन फिर छलांग मार कर चला गया। मैंने यह भी सुना था कि बाघ ललकारने पर सामने आता है। यह कथन कहां तक सत्य है, यह देखने के लिए मैंने एक बार बाघ को ललकारा। वह छलांग मार कर मेरे सामने आ गया। मेरे मन में तो हुआ कि अब बुरे फंसे। फिर भी हिम्मत की ओर पहले की तरह बाघ की दृष्टि से अपनी दृष्टि मिला दी। बाघ फिर कुछ देर खड़ा और थोड़ी देर बाद चल दिया। मैंने मन में कहा– किसी तरह तू चला जा। अब मैं तुझे नहीं ललकारूंगा। बाघ गया और मैं अपने घर लौ

आया ।

इस प्रकार आँख बताने पर बाघ भी सामना नहीं करता और न आक्रमण करता है । इसके विपरीत पीठ दिखाने से वह फौरन आक्रमण कर देता है । ठीक इसी प्रकार विपत्ति तब तक विपत्ति है जब तक उसे पीठ दिखाई जाती है । जब विपत्ति को आँख बताई जाती है अर्थात् दृढ़ता के साथ उसका सामना किया जाता है तब वह विपत्ति भी सम्पत्ति बन जाती है अतएव विपत्ति के आने पर उससे घबराओ मत । उसे पीठ मत दिखाओ । उसका धेर्य के साथ, प्रसन्नतापुर्वक हँसते हुए सामना करो । उसके साथ युद्ध करो । अहिंसा धैर्य आदि की सात्विक शक्ति से उस पर आक्रमण करो । निश्चय समझो, ऐसा करने से वह विपत्ति भी आपके लिये सम्पत्ति बन जायेगी ।

रामचन्द्र पर भी विपत्ति आई थी मगर किसी कुशलता दृढ़ता और धेर्य के साथ उन्होंने उस विपत्ति की सम्पत्ति के रूप में पलट दिया, यह कौन नहीं जानता ? उन्होंने ऐसा न किया होता और विपत्ति के आने पर कौने में बैठकर रोने लगे होते तो आज उन्हें कौन याद करता ? जितने भी महापुरुष इस भूतल पर हुए हैं, उन्हें महापुरुष बनाने वाली शक्ति विपत्ति ही है । विपत्ति के साथ संघर्ष करके उन्होंने अपनी शक्ति को विकसित किया और महापुरुष कहलाये । लोग उन महापुरुषों की प्रशंशा तो करने लगते हैं, लेकिन जिन गुणों के कारण उनकी प्रशंसा करते हैं, उनहें अपने जीवन में लाने का प्रयत्न नहीं करते ।

मान लो, एक सेठ अपने थाल में अच्छे–अच्छे खाद्य पदार्थ लेकर खाने बैठा है । सामने बैठा हुआ दूसरा आदमी थाल के पदार्थ देखकर उनकी प्रशंसा करता है । कहता है– सेठजी आपके, थाल में बहुत बढ़िया पदार्थ हैं । ऐसे उत्तम पदार्थों को खाना दूर, मैंने देखा भी नहीं था । भोजन की इस प्रकार प्रशंसा सुनकर सेठ ने कहा–आओ भाई आ जाओ। तुम भी भोजन कर लो । सेठ के यह कहने पर भी अगर वह आदमी भोजन नहीं करता तो उसे भाग्यहीन के सिवाय और क्या कहा जा सकता है ?

इसी प्रकार लोग महावीर और राम आदि के वृत्तान्त सुनते हैं और प्रशंसा करते हैं । लेकिन जब उनसे उसी मार्ग को अपनाने के लिये कहा जाता है, जिसे उन्होंने अपनाया था तो अपनी उपेक्षा प्रकट करने लगे हैं । यह भाग्यहीनता नहीं तो क्या है ?

अतएव केवल बातें सुनने और दूसरों की प्रशंसा करने में ही मत रहो वरन् जो कुछ सुनते हो, जिसे हृदय से अच्छा और कल्याणकारी मानते हो, उसे क्रियात्मक रूप दो । ऐसा करने में अगर विपत्ति आड़ी आती हो तो उससे डरो मत । उसका वीरतापूर्वक सामना करो । उसे सम्पत्ति बना कर परास्त कर दो । उस समय यही समझो कि विपत्ति हमारी परीक्षा के लिये ही आई है । विपत्ति ही सम्पत्ति को बुलाने वाली है । अतएव उसे बुरी न मानो, उससे घबराओ मत । हां, एक बात ध्यान रखने योग्य है । विपत्ति सम्पत्ति को तभी लाती है जब उससे भयभीत न हुआ जाये । डाक्टर को रोग ही बुलाता है । अगर डाक्टर रोग पर नाराज होने लगे तो

क्या लाभ होगा ? असली डाक्टर तो तभी है जब वह रोग को भी सुखद बना डाले । इसी प्रकार दुःख परमात्मा जैसे महावैद्य को बुलाने वाला है । अतएव इससे घबराओ मत । परमात्मा की शरण में जाकर विपत्ति को सम्पत्ति के रूप में पलट दो ।

---

5 : पदमं नाणं तओ दया

रे जीवा ! विमल जिनेश्वर सेविए ।

यह भगवान् विमलनाथ की प्रार्थना है । मैं प्रायः प्रतिदिन प्रार्थना के विषय में अपने विचार प्रकट करता रहता हूं । प्रार्थना का विषय मेरे लिये बहुत प्रिय हो गया है । इस विषय में थोड़ा–बहुत कहे बिना मुझे संतोष नहीं होता । प्रार्थना में मैं अपने जीवन का महान् कल्याण देखता हूं और मानता हूं कि आपका कल्याण भी इसी में छिपा है अतएव आज भी कुछ शब्द परमात्मप्रार्थना के विषय में कहता हूं ।

आज व्याख्यान का स्थान बदल गया है । मोरवी–नरेश के धर्मप्रेम के कारण ही आज यहां व्याख्यान हो रहा है मुझे तो नियत स्थान पर व्याख्यान देने में कोई कठिनाई नहीं थी, मगर आप सब का वहां समावेश नहीं हो सकता था । अतएव आपसे इस स्थान की योजना की है । आज हम लोग जब विशिष्ट स्थान पर बैठे हैं तो किसी विशिष्ट विषय पर ही हमें विचार करना चाहिये । मगर पहले तो प्रार्थना के विषय में ही कुछ कहूंगा ।

परमात्मा की प्रार्थना करने से क्या लाभ है ! यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है । इस प्रश्न का उत्तर देते हुए ज्ञानीजन कहते हैं कि –

तेरी बुध निर्मल हो जाय रे प्राणी !

अर्थात्–हे प्राणी ! अगर तू परमात्मा की प्रार्थना करेगा तो तेरी बुद्धि निर्मल हो जाएगी । तात्पर्य यह है कि बुद्धि पर जो आवरण आ रहा है वह परमात्मा की प्रार्थना करने से हट जाता है और इस प्रकार बुद्धि निर्मल बन जाती है ।

भक्त लोग अपनी आत्मा से कहते हैं हे आत्मन् ! तुझे अपनी बुद्धि को निर्मल बनाने की आवश्यकता है । दूसरों को कहने–सुनने में मत रह किन्तु अपनी बुद्धि निर्मल बना । पहले अपने कपड़े और अपना घर साफ किया जाता है और फिर दूसरे से सफाई करने के लिए कहा जाता है । इसके विपरीत करने वाला बुद्धिमान् नहीं माना जाता । उसी प्रकार हे आत्मन् पहले तू बुद्धि निर्मल बना और इसके लिये भगवान्

विमलनाथ की शरण मे जा । बुद्धि को निर्मल बनाने का मार्ग भगवान् विमलनाथ की सेवा करना है ।

भगवान् विमलनाथ की सेवा करने से बुद्धि विमल होती है यह समझ लेने पर प्रश्न उपस्थित होता है कि विमलनाथ भगवान् की सेवा करने का उपाय क्या है ? किस प्रकार विमलनाथ भगवान् की सेवा करनी चाहिये ? इस विषय में ज्ञानियों का कथन है कि वस्तु को प्राप्त करने के दो ही मार्ग है–ज्ञान और दया । यह दोनों मार्ग भी एक दूसरे से निरपेक्ष नहीं होने चाहिये । परस्पर साक्षेप होकर ही दोनों कार्यसाधक होते हैं । अब हमें यह देखना चाहिये कि हम किस मार्ग पर चल रहे हैं और हमारा मार्ग सही है या उसमें किसी प्रकार क भूल हो रही है ?

जैन साधु दयालु होते हैं, यह बात प्रसिद्ध है । मगर कुछ लोग जैनों की दया पर आरोप करते हैं कि इस दया से जगत् का नाश हुआ है । लोगों का यह कथन कहां तक ठीक है ? और यदि ठीक नहीं है तो वे क्यों ऐसा आरोप करते हैं? इन प्रश्नों पर विचार करने के बदले मैं अभी इतना ही कहना चाहता हूं कि आत्मा का हित परमात्मा की शरण में जाने से ही हो सकता है । किसी के साथ वैर–विरोध या लड़ाई–झगड़ा "करने से आत्मा का हित नहीं हो सकता । इसलिये ऐसा आरोप करने वालों से लड़ाई न करके हम स्वयं परमात्मा की शरण में जाएं और इस बात का विचार क्यों न करें कि आरोप करने वालों के हृदय में हमारे ऊपर आरोप करने का विचार क्यों उत्पन्न हुआ ? हमारी ओर से तो कोई ऐसा व्यवहार नहीं होता जिससे लागों की इस प्रकार आरोप करने का अवसर

मिलता हो ? और यह बात जानने के लिये हमें यह सोचना होगा कि हम परमात्मा की प्रार्थना किस प्रकार करते हैं और वास्तव मे किस प्रकार करनी चाहिए ? दशवैकालिकसूत्र के चौथे अध्ययन में कहा है –

पढमं नाणं तओ दया एवं चिट्ठइ सव्वसंजए ।
अन्नाणी किं काही किं वा नाही सेयपावगं ।।

यह परमात्मा का वाक्य है । यहां पहले ज्ञान की आवश्यकता बतलाई गई है । आवश्यकता तो दया की भी है, मगर पहले ज्ञान की और फिर दया की आवश्यकता है । विना ज्ञान की दया अंधी है और विना दया का ज्ञान पंगु है। अंध और पंगु की संसार में कद्र नहीं होती सर्वांगपूर्ण की कद्र होती है अतएव दोनों की ही आवश्यकता है । कहा है –

हतं ज्ञानं क्रियाहीनं हता चाज्ञानिनां क्रिया ।

ज्ञान और क्रिया एक दूसरे के अभाव में वृथा हैं– कार्यकारी नहीं हैं । इस प्रकार आवश्यकता दोनों को है मगर पहले ज्ञान होना आवश्यक है । अतएव अगर दया करनी है तो पहले ज्ञान प्राप्त करो । ज्ञान प्राप्त होने पर ही दया हो सकती है । अज्ञानी बेचारा क्या कर सकता है ? प्रत्येक कार्य को सम्यक् प्रकार से सम्पन्न करने के लिये ज्ञान की आवश्यकता होती है । अतएव पहले ज्ञान प्राप्त करो । जिस कार्य का जो कारण है और जिस कारण से कार्य होता है, उसे कभी नहीं भूलना चाहिये । दया का कारण ज्ञान है, अतएव दया के लिए ज्ञान होना ही चाहिये ।

सिद्धांत के इस वाक्य को सामने रखकर जब हम विचार करते हैं तो मालूम होता है कि हम लोग भूल कर रहे हैं । विचार करने पर आपको भी यही मालूम होगा । हम दया के लिए तो दौड़ते हैं मगर ज्ञान के लिए वैसा प्रयत्न नहीं करते । परिणाम यह होता है कि हमारी दया अंधी रहती है और इस अंधी दया के कारण ही लोग हमारे ऊपर या हमारी दया के ऊपर आपेक्ष करते हैं । अगर हमें इस आक्षेप का निवारण करना है तो मैं कहता हूं कि हम अपने कर्म पर विचार करें और दया करने के लिये पहले ज्ञान प्राप्त करें । दया के प्रति हमारे ह्रदय में बहुत अनुराग है–इतना अनुराग है कि अगर दया के लिये कोई फंड होने लगे तो उसमें असहाय विधवाएँ भी कुछ न कुछ देने के लिये तैयार हो जाएंगी । इस प्रकार दया की तरफ तो हम लोगों की काफी रुचि है, लेकिन ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि पहले ज्ञान की आवश्यकता है, जिससे दया की पहिचान की जा सके ।

भलीभांति समझ लेना चाहिये कि दया कार्य है और ज्ञान कारण है । पहले कारण होता है और फिर कार्य होता है । कारण के बिना कार्य नहीं होता । जब कारण होगा तभी कार्य हो सकेगा । अगर कोई आदमी कहने लगे कि सूत के बिना ही कपड़ा बन गया है तो क्या आप उसका कहना मानेंगे ? आप उसका कहना सच नहीं मानेंगे और यही कहेंगे कि ऐसा नहीं हो सकता । तात्पर्य यह कि जो सिफ कार्य पर ही विचार करता है और उसके कारण को भूलता है वह बुद्धिमान् नहीं है । यह बात तो स्त्रियां भी समझती है कि बिना आटे रोटी नहीं बन सकती । अतएव यह सुनिश्चित है

कि कार्य से पहले कारण को जुटाने का विचार करना चाहिए।

दया का कारण ज्ञान है । आपमें दया है लेकिन जब उसके कारण ज्ञान को आप विस्मृत कर देंगे तो स्वाभाविक है कि आपकी दया उपहासास्पद बन जाये । जब आपमें ज्ञान होगा और ज्ञानपूर्वक दया करेंगे तब कोई भी व्यक्ति आपकी दया के विषय में उंगली नहीं उठा सकेगा । आपकी दया का आक्षेप करने का साहस किसी को नहीं होगा ।

जब आप ज्ञान प्राप्त कर लेंगे और ज्ञानपूर्वक दया का आचरण करेंगे तो दया करते समय आपको अवश्य ही यह विचार होगा कि मुझे पहले किसकी दया करनी चाहिए । मान लीजिए कि दो आदमी एक ही स्थिति के कारण दया के पात्र हैं । उनमें एक धर्म का प्रेमी है और दूसरा धर्म का प्रेमी नहीं है । अब आप पहले किस पर दया करेंगे ? दया तो दोनों की ही करनी चाहिए—दोनों की कर सकें तो अच्छा ही है लेकिन दया का क्रम क्या रहेगा ? आपके लिए यही उचित होगा कि आप पहले धर्मप्रेमी की दया करें । अगर आप ऐसा नहीं करेंगे धर्मप्रेमी की उपेक्षा करके जो धर्मप्रेमी नहीं है उसकी दया करेंगे तो आपको ज्ञानी कहा जायेगा या अज्ञानी ?

हम अपनी दया के विषय में जिस पर आपका [illegible] है उससे पूछ देखिए कि दया की प्रवृत्ति के [illegible] में [illegible] है या नहीं ? और अपने से पूछ [illegible] हैं [illegible] [illegible] ही आक्षेप करते हैं ? [illegible] [illegible] दुःख होना स्वाभाविक है ।

लड़ने से क्या लाभ है ? हमें तो विवेक पूर्वक यही विचार करना चाहिए कि लोगों की इस निन्दा का कारण हमारी भूल तो नहीं है ? अपनी भूल देखे और उसे सुधारे बिना लोगों से लड़के और उत्तर–प्रत्युत्तर करने से कोई नतीजा नहीं निकल सकता । मानलो किसी के सिर पर काली पगड़ी है । किसी दूसरे ने उससे कहा–तुम्हारी पगड़ी काली है । अब अगर काली पगड़ी वाला आदमी कहने वाले से झगड़ने लगे तो क्या यह उचित है ? और उस झगड़ने वाले से क्या कहा जायगा ? निष्पक्ष व्यक्ति यही कहेगा कि भाई झगड़ते क्यों हो? अपनी पगड़ी ही क्यों नहीं देखते ? अगर तुम्हें काली पगड़ी वाला कहलाना पसंद नहीं है तो अपनी पगड़ी बदल डालो । इसी प्रकार जैनधर्मानुयायियों की दया के विषय में या किसी अन्य विषय में लोग जो आरोप करते हैं, उस आरोप के संबंध में स्वयं विचार न करके और अगर हम कोई भूल करते हैं तो उसे न सुधार करके, हम झगड़ा करें या दुःख मनाएं तो इससे क्या लाभ हो सकता है ?

दया के विषय में अगर हमसे कोई भूल होती है तो हमें विचार करना चाहिये । हमें सोचना चाहिये कि वास्तव में हमसे क्या भूल हो रही है ? कल्पना कीजिए एक ओर एक आदमी मर रहा है और दूसरी ओर एक गाय मर रही है । आपके लिये पहले किसकी रक्षा करना उचित होगा ? आप यही कहेंगे कि पहले मनुष्य की रक्षा करना उचित है । गाय पशु है अतएव मनुष्य के बाद उसका नम्बर आता है । मनुष्य सब जीवों में उत्कृष्ण है । इस प्रकार सैद्धान्तिक रूप में तो यह बात स्वीकार की जाती है मगर व्यवहार में क्या होता है?

जब मनुष्य सब से श्रेष्ठ प्राणी है और अन्य जीवों की अपेक्षा वह दया अथवा रक्षा पाने का प्रथम अधिकारी है तो जिन कारणों से मनुष्य मारे जाते हैं या कष्ट पाते हैं, उन कारणों को या ऐसे कानून--कायदों को रोक देने पर मनुष्य को कितनी दया न होगी ? लेकिन इस ओर लोगों का ध्यान नहीं है । इसका प्रधान कारण ज्ञान की कमी है । आपके अन्तःकरण से करुणा का झरना तो वहता है मगर उसके बहाव को दिशा बतलाने वाले ज्ञान का प्रायः अभाव है । यही कारण है कि अकसर लोग मनुष्यों की उपेक्षा करके पशु--पक्षियों या दूसरे छोटे जीवों का दया के लिये दौड़ पड़ते हैं । वे अपने कर्त्तव्य के क्रम का विचार नहीं करते ।

जब कारण शुद्ध नहीं होता तो कार्य भी ठीक नहीं होता । दया का कारण ज्ञान है । अतएव ज्ञान के अभाव में, दया संबंधी भूल हो जाना स्वाभाविक है । उचित तो यही है कि जब दया का कारण ज्ञान है तो उसे जीव की रक्षा पहले करनी चाहिये जिसमें विशिष्टज्ञान है । मान लो--एक पशु मारा जा रहा है और एक मनुष्य मारा जा रहा है । यह देखकर आपका हृदय पहले किसे बचाने की प्रेरणा करेगा ? मनुष्य को बचाने के लिये हृदय में प्रेरणा होगी । इससे स्पष्ट है कि प्रकृति को भी यही प्रेरणा है कि मनुष्यों की दया करो और फिर दूसरे जीवों की । लेकिन इस विषय में भूल होती है और इसी कारण अपवाद होता है कि जैनियों की दया कायरता लाने वाली है ।

यदि अहिंसा का स्वरूप यही होता, जैसे की आज माना जाना जाता है तो कोई राजा जैन होकर राज्य ।

प्रकार चला सकता है ? इसलिये दया के कारण ज्ञान की रक्षा पहले करो और ज्ञान के लिये–ज्ञानप्रचार के लिए जितना स्वार्थ त्याग कर सको, करो । ज्ञानियों ने स्पष्ट कहा है – 'पढमं नाण तओ दया ।' अर्थात् पहले ज्ञान फिर दया। अतएव पहले ज्ञान की उपासना करना चाहिये । जिसके पास जैसे साधन हों, वह वैसे ही साधनों को ज्ञान के फैलाव में लगा सकता है, जिसके पास विद्या या शरीर की शक्ति है, वह उसका उपभोग कर सकता है ।

आप सर्वज्ञपुत्र है । फिर भी लोग अगर आपकी निन्दा करते हैं तो इसका प्रधान कारण आपका अपने ज्ञान को विस्मृत कर देना है । आप लोग आपस में एक दूसरे को पराजित करने के लिये तो शक्ति लगाते हैं, इसके लिये रुपया पानी की तरह बहाते हैं, लेकिन ज्ञान के विकास और प्रचार की ओर से जो अत्यन्त आवश्यक कार्य है उदासीन रहते हैं । ज्ञान होगा वह अवश्य विचार करेगा कि मैं किसी का और विशेषतः अपने भाइयों का चित्त न दुःखाऊं । अतएव ज्ञान की उपेक्षा मत करो । संक्षेप में यह कहता हूं कि अपने हृदय में परिवर्तन करो ।

आज यहां काठियावाड़ जैन गुरुकुल के छात्र दर्शन करने और आशीर्वाद प्राप्त करने के लिये आये हैं । इन बालकों को मेरा यही संदेश है कि ज्ञान की उन्नति करो । अपना बहुतसा ज्ञान साहित्य में भरा पड़ा है और वह साहित्य भंडारों में बंद है । उस साहित्य को भंडारों में ही बंद मत रहने दो और उस ज्ञान को साहित्य में ही मत भरा रहने दो। उसका विकास करो । उसे सर्व साधारण के लिय सुलभ बना

गया है ? हृदयबल के कारण ही उन्हें इतना गौरव मिला है। हृदयबल होने के कारण ही उन्होंने मौज मजे का जीवन त्याग दिया है । अन्यथा वे बैरिस्टर थे । उन्हें किस चीज की कमी थी ? राजकोट में गांधीजी से मेरी मुलाकात हुई थी। उस समय मैंने उन्हें देखा कि उनके शरीर पर उतने भी वस्त्र नहीं थे, जितने हमारे शरीर पर हैं ! उनका शरीर भी सूखे गन्ने की तरह था ! ऐसा होते हुए भी वे जगत् के सर्वश्रेष्ठ पुरुष माने गये हैं । इसका कारण यही है कि उनमें हृदयबल है । जैनधर्म भी ऐसे ही हृदयबल का समर्थन करता है । अर्थात् ज्ञानपूर्वक दया का विधान करता है । मगर आजकल क्या ज्ञानपूर्वक दया की जाती है ? अगर की जाती है तो कितने आदमी मिलेंगे, जिनके शरीर पर चर्बी लगे हुए वस्त्र नहीं हैं !

दोनों का मिलान मानना ही उचित है । जैनसिद्धांत भी यही मानता है । मगर आजकल स्याद्वाद का यह सिद्धांत उसी तरह कायरों की गोद में जा पड़ा है, जिस प्रकार कायर के हाथ में तलवार हो । कायर के हाथ में तलवार होने से तलवार की भी हंसी होती है और कायर की भी । इसी प्रकार आज यह आपके पास होने के कारण इस सिद्धांत की हंसी हो रही है । अतएव मेरी प्रेरणा है कि कायरता त्यागो और वीर बनो । जागृत होओ । अपने महत्त्वपूर्ण सिद्धांतों के ज्ञान को प्रकाशित करो । वह ज्ञान ऐसा हो कि उसकी सहायता से कार्य पूर्ण हो सके और लोगों को मालूम हो जाए कि जैनियों की दया ही सच्ची दया है । आज ऐसे सच्चे ज्ञान की अत्यन्त आवश्यकता है ।

सच्चा ज्ञान कैसा होता है यह बताने के लिये मैंने पहले हृदय और मस्तिष्क का भेद बताया है । हृदय के सच्चे विचार को या हृदय के बल को ही सच्चा ज्ञान समझना चाहिये । दूसरे ग्रन्थकार भी इस बात को स्वीकार करते हैं। मगर आजकल मस्तिष्कबल के सामने हृदयबल को तुच्छ समझा जाता है और मष्तिष्कबल को ही सर्वत्र प्रधानता दी जाती है । मगर विश्वास रखो कि हृदयबल के समान कोई बल या ज्ञान नहीं है । यह ज्ञान भारत में ही जन्मा है, भारत में ही उन्नत हुआ है और भारत में ही इसका रूप देखने को मिलता है । मैंने किसी पत्रिका के एक लेख में सुना था कि विदेशों के अनेक पादरियों के प्रधान ने कहा था कि इस समय संसार में सबसे महान् पुरुष मोहनदास करमचन्द गांधी है । विचार करो कि गांधीजी को महापुरुष क्यों कहा

गया है ? हृदयबल के कारण ही उन्हें इतना गौरव मिला है। हृदयबल होने के कारण ही उन्होंने मौज मजे का जीवन त्याग दिया है । अन्यथा वे बैरिस्टर थे । उन्हें किस चीज की कमी थी ? राजकोट में गांधीजी से मेरी मुलाकात हुई थी। उस समय मैंने उन्हें देखा कि उनके शरीर पर उतने भी वस्त्र नहीं थे, जितने हमारे शरीर पर हैं ! उनका शरीर भी सूखे गन्ने की तरह था ! ऐसा होते हुए भी वे जगत् के सर्वश्रेष्ठ पुरुष माने गये हैं । इसका कारण यही है कि उनमें हृदयबल है । जैनधर्म भी ऐसे ही हृदयबल का समर्थन करता है । अर्थात् ज्ञानपूर्वक दया का विधान करता है । मगर आजकल क्या ज्ञानपूर्वक दया की जाती है ? अगर की जाती है तो कितने आदमी मिलेंगे, जिनके शरीर पर चर्बी लगे हुए वस्त्र नहीं है !

घाटकोपर में देवीदास भाई घेबरिया ने मुझे एक घटना सुनाई । वह कहने लगे – मैं रेल में सफर कर रहा था । मेरे ही पास बगल में एक आदमी और बैठा था । बातचीत के सिलसिले में मैंने दयाधर्म की प्रशंसा की । तब वह आदमी मुझसे कहने लगा–बस रहने दो । दयाधर्म की ज्यादा तारीफ मत करो । दो भैंसों का चमड़ा लेकर तो बैठे हो और दयाधर्म का बखान करते हो !' उस आदमी की यह बात सुनकर मैं लज्जित हो गया, क्योंकि मेरे पास चमड़े के दो सन्दूक थे । उन्हें सन्दूकों को लक्ष्य करके उसने कहा था कि दो भैंसों का चमड़ा लेकर बैठे हो और फिर भी दया–धर्म का गुणगान कर रहे हो !

इसी तरह कई लोग दया की बातें तो करते हैं लेकिन

शरीर पर से चर्बी लगे हुए वस्त्र तक नहीं उतार सकते। ऐसी दशा में कैसे कहा जा सकता है कि उनकी दया ज्ञान–पूर्वक है ? जो पाप सहज ही टल सकता है उसे भी न टालना क्या दया है ? अगर आपको दया से प्रेम है तो आपका कर्त्तव्य हो जाता है कि आप ऐसा कोई कार्य न करें जिससे दूसरों को दुःख उपजता हो।

चर्बी के लगे हुए वस्त्र पहले पहनने वाले लोग चर्बी के लिए होने वाली पशुओं की हिंसा में ही सहायक नहीं होते किन्तु किसी न किसी रूप में अपने भाइयों की रोटी छीनने में भी सहायक होते हैं। इस तरह की बातों पर विचार करो और हृदय को निर्मल करके पहले अपने घर के लोगों से ही दया शुरु करो। विचारो तो सही कि चर्बी लगे वस्त्रों को आप पहनते हैं, उनके एक–एक तार के लिये कैसी–कैसी हिंसा होती है ! यह विचार कर ज्ञान का विकास करो और जो कुछ भी करो, त्याग के लिए करो।

आज आपका मस्तष्क–बल आपके हृदय–बल को दबाता जा रहा है। जैसे अपनी माता को अपनी पत्नी के पैरों में गिरने को बाध्य करना उचित नहीं है, उसी प्रकार हृदयबल को, मस्ति ्कबल के आगे झुकाना उचित है, उस हृदयबल को कुचलना ऐसा ही काम है। जिस हृदयबल के होने के कारण ही माता ने आपका पालन–पोषण किया है, अब उसी हृदय की उपेक्षा करना क्या उचित है ? जिस प्रकार जन्म देने वाली माता की बेइज्जत जाने देना भी ठीक नहीं है। अतएव हृदयबल को विकसित करो और मस्तिष्क–बल को उसके अधीन करो। ऐसा करने से ही आपका कल्याण होगा।

मेरी ज्ञान धरम चित्त धर रे ।
धरम है सद्‌गति का दाता,
उसी से मिलती सुख साता ।।

कौन ऐसा है जो धर्म के प्रति प्रीति नहीं रखता है ? धर्म की भावना तो सभी में हैं, किन्तु धर्माचरण के कर्म में भूल हो रही हैं । ठाणांगसूत्र के द्वितीय स्थानक में धर्म के दो भेद बताये गये हैं—सूत्रधर्म और चारित्रधर्म । यानी पहले ज्ञान और फिर क्रिया ! इस प्रकार पहले ज्ञान की आवश्यकता है और तब क्रिया की । इन दोनों से ही धर्म की प्राप्ति होती है अतएव पहले ज्ञान प्राप्त करना चाहिये ?

अपनी माता को भूलकर पानी के गुलाम बन जाना ज्ञान नहीं है । अर्थात् हृदयबल को भूलकर मस्तिष्कबल को पकड़ कर बैठे रहना ज्ञान नहीं हैं । जो एकान्त मस्तिष्कबल पर निर्भर रहता है वह धर्म का आचरण नहीं कर सकता । क्योंकि मस्तक आराम चाहता । उसका दृष्टिकोण तो यही रहता है –

किस किसको याद कीजिए किस किसको रोइए ।
आराम बड़ी चीज जै, मुँह ढँक के सोइए ।।

मस्तिष्कबल वाला सोचता है—दुनिया में दरिद्रता और दुर्भाग्य से सताये हुए अनगिनत प्राणी है । हम उनकी चिन्ता करते फिरें तो जीवत रहना कठिन हो जाए । जिसने जैसा बीज बायोया है वह वैसा ही काटेगा ! पाप करने वाले सुखी कैसे हो सकता है ! अतएव हमें दूसरों की चिन्ता अपने माथे

नहीं लेनी चाहिये और जिस प्रकार संभव हो अपने जीवन को सुखी बनाने का प्रयत्न करना चाहिये । अगर हमारे सुख के कारण दूसरों को दुःखी होना पड़ता है तो हम लाचार हैं हमें अपने ध्येय सुख को प्राप्त करना है । मुझे क्या आवश्यकता पड़ी है कि किन्हीं दूसरों के लिये मैं कष्ट सहन करता फिरूं!

मगर हृदयबल ऐसा नहीं कहता । हृदयबल क्या कहता है, यह जानने के लिये हरिश्चन्द्र के चरित्र का विचार करो । हरिश्चन्द्र ने किसी से कोई कर्ज नहीं लिया था, सिर्फ मौखिक दान दिया था और वह भी जागृत अवस्था में नहीं । फिर भी उन्होंने वह ऋण चुकाने के लिए अपने आपको बेच दिया और अपनी पत्नी को भी ! आजकल के बुद्धिवादी लोग भले ही राजा हरिश्चन्द्र को कथा के विषय में गांधीजी लिखते हैं कि इस कथा में असंभव जैसी कोई बात नहीं हे । यह कोई नवीन गढ़ी हुई कथा नहीं है । पुराने समय से ही चली आ रही है । इस कथा को अगर कल्पना मान लिया जाए तो ऐसी कल्पना भारत के लोग ही कर सकते हैं और भारत के लोग ही उसे मान सकते हैं । दूसरे लोगों में तो ऐसी कल्पना का होना भी कठिन है ।

आज की स्थिति तो यह है कि जो कर्ज लिया है और जिसके लिये लिखापढ़ी भी कर दी है उससे बचने के लिए भी दिवाला निकाल दिया जाता है । केवल दुकान का नाम पलटने की आवश्यकता समझी जाती हे और लिए हुए कर्ज को चुकाने से इन्कार कर दिया जाता है । मगर राजा हरिश्चन्द्र ने मुख से दिये गये दान को भी अपने पर कर्ज समझा । यह हृदयबल का ही प्रताप है । रानी तारा में भी

हृदयबल था । इसी कारण वह पति के सिर का कर्ज उतारने के लिये स्वयं बिकी राजा भी अपने कर्ज को चुकाने के लिये भंगी के हाथ बिका ।

क्या राजा हरिश्चन्द्र का भंगी के हाथ बिकना और उसके यहां जाकर रहना उचित है ? अगर ठीक है तो क्या आप भंगियों को व्याख्यान सुनाने के लिये आने दे सकते हैं आप भले ही उनसे घृणा करते हो मगर जैनधर्म उनसे घृणा नहीं करता । शास्त्र में कहा है कि हरिकेशी मुनि चाण्डाल–कुलोत्पन्न ही थे । यह कहकर भी उनकी प्रशंसा की गई है और बतलाया गया है कि जैनधर्म के समीप जाति–पांति का कोई महत्व नहीं है । महत्त्व तप का है । आप भी विचार कर देखो कि जिन भंगियों से घृणा की जाती है, वे ऐसा क्या करते हैं, जिसके कारण उन्हे घृणा का पात्र समझा जाता है ? आप लोग अपने–अपने घरों में टट्टी जाते है, और घर को अशुद्ध बनाते हैं । भंगी आकर घर की सफाई करता है – उसे पवित्र बनाता है । क्या यही उसका अपराध है ? घर को अपवित्र करने वाला पवित्र है और पवित्र करने वाला अपवित्र है ? यह कहां का न्याय है ! यह कैसा धर्म है ! इस प्रकार पक्षपातपूर्ण और अधर्ममय विचार ज्ञान न होने के कारण ही होते हैं । जिसमें ज्ञान होगा और ज्ञानपूर्वक दया करता होगा वह भंगी से घृणा नहीं करेगा । जहां काम नहीं चलता वहां आप भी घृणा नहीं करते, जैसे रेल में । मगर वह भंगी अगर यहां व्याख्यान सुनने आये तो आप उनसे घृणा करने लगेंगे यह अनुचित है । अतएव सत्य को समझने के लिए ज्ञान प्राप्त करो । अगर आपसे ज्यादा कुछ न बन सके

तो कम से कम हरिश्चन्द्र के आदर्श की उसके चाण्डाल के हाथ बिकने के आदर्श की--निन्दा मत करो ! अगर आपने आज इतना किया तो आगे भी कुछ कर सकोगे ।

तात्पर्य यह है कि प्रत्येक वस्तु को पहले ज्ञान की कसौटी पर कसो और फिर उसके विषय में किसी प्रकार का निर्णय करो । आप स्वयं ज्ञान प्राप्त करो और दूसरे लोग, जो ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, उन्हें ज्ञान के साधन प्रदान करो । हमारा धर्मतत्त्व, हमारे सिद्धान्त इतने सच्चे हैं कि ज्ञान की कसौटी पर कसे जाने पर उनकी महिमा बढ़ेगी ही, घट नहीं सकती । अतएव ज्ञान की आराधना करो और जो लोग स्वार्थ त्याग कर ज्ञान के प्रचार में लगे हैं, उनको यथोचित सहकार दो । ऐसा करने से ही शासन की प्रभावना है । इसी में आपका कल्याण है ।०

---

० लगभग अढ़ाई हजार श्रोताओं की उपस्थिति में मोरवी के राजमहल के चौक में दिया गया व्याख्यान ।

6 : अपना आप सहायक

अनन्त जिनेश्वर नित नमूं ।

यह भगवान अनन्तनाथ की प्रार्थना है । इस प्रार्थना में प्रार्थी ने परमात्मा से अपने हृदय में वास करने की कामना की है ।

भक्त कहते हैं – हे प्रभो ! यद्यपि मेरी भी आत्मा अनन्त है लेकिन मैं अभी शान्ति में निमग्न होकर अपने स्वरूप को भूल रहा हूं । आत्मा को शान्त अवस्था से निकाल कर अनन्त अवस्था में लाना कोई सरल कार्य नहीं है, फिर भी असंभव तो नहीं है । अतएव इस ओर जितने पैर भरे जा सकें, अच्छा ही है ।

कहा जा सकता है कि आत्मा को शान्त दशा से निकाल कर अन्तदशा में लाने की प्रार्थना करना तो ठीक है मगर, जिसकी प्रार्थना की जाती है, उस परमात्मा का कहीं ठिकाना भी तो हो ! जिसका पता–ठिकाना भी नहीं है, उसकी ओर कदम बढ़ावें भी तो किस प्रकार ? इस कथन के उत्तर में ज्ञानियों का कहना है कि परमात्मा दूर नहीं है । वह समीप से समीपतर है । मगर उस समीप के परमात्मा को समझने में भूल हो रही है । अगर हम उस भूल को दुरुस्त कर लें तो परमात्मा को समझ सकते हैं । ऐसा करने के ।

सर्वप्रथम चित्त को शांत करना चाहिये । शांत और स्वच्छ जल में ही मुँह दिखता है । जो पानी शांत और स्वच्छ नहीं है उसमें मुँह नहीं दिखता । अतएव सर्वप्रथम चित्त को शांत करने की अनिवार्य आवश्यकता है ।

परमात्मा को जानने के लिए ही योग क्रिया बतलाई गई है । योग क्या है, इस सम्बन्ध में कहा गया है –

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः

अर्थात् – चित्त की वृत्तियों को निरोध करना ही योग कहलाता है । दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि चित्त को तल्लीन करने को ही योग कहते हैं । प्रश्न होगा कि चित्त तो अनेक अयोग्य काम में चित्त तल्लीन होता है । वेश्यागामी अपने काम में चित्त तल्लीन रखता है । जुआरी अपने काम में तन्मय रहता है और शराबी शराब में ही तल्लीन बना रहता है । इस प्रकार बुरे कामों में भी चित्त की तल्लीनता देखी जाती है । यह तल्लीनता भी क्या योग कहला सकती ? चित्त बुरे कामों में तल्लीन हो जाता है, यह सिद्ध करने के लिए अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं । रावण का मन सीता में तल्लीन था । क्या उसे सीता के विाय कुछ नजर आता था? नहीं । उसका मन तल्लीन था और तल्लीनता ही यदि योग है तो फिर रावण की निन्दा करने का क्या कारण है ?

इस प्रकार योग की व्याख्या तल्लीनता कही गई है, उसमें अतिव्याप्ति दोष आता है । अतएव यह लक्ष्मण अपूर्ण है। इस अपूर्णता को मिटाने के लिए कहा गया कि चित्त की

वृत्ति का दूसरे कामों में तललीन होना ही योग नहीं है, वरन्–

तदा द्रष्टा स्वरूपावसानम् ।

अर्थात् – चित्त को एकाग्र करके द्रष्टा का अपने ही स्वरूप को देखना योग है । काम क्रोध आदि में चित्त को तल्लीन करना योग नहीं है विषय में चित्त की तल्लीनता द्रष्टा का अपने स्वरूप में रहना नहीं है । अतएव ऐसा तल्लीनता योग के अन्तर्गत नहीं है ।

योग की यह व्याख्या है । इस व्याख्या को समझकर आप अपने विषय में विचार कीजिये कि हमारा चित्त आत्मस्वरूप देखने में तल्लीन होता है या नहीं ! अगर होता है तब वह छोटा या मोटा योग ही है जो परमात्मा के जानने का ही मार्ग है । अगर चित्त की वृत्ति विषयों से निकलकर आत्मा या परमात्मा के रूप में एकाग्र नहीं होती तो समझ लीजिये कि आप परमात्मा को जानने के मार्ग पर नहीं चल रहे हैं, चाहे ऊपरी दिखावा कैसा भी हो, कोई साधु का वेष ही धारण क्यों न कर ले, या ध्यान लगाकर ही क्यों न बैठा रहे ! इस तथ्य को समझने के लिए शास्त्र में आई हुई एक घटना लीजिये–

राजर्षि प्रसन्नचन्द्र ध्यान में बैठे हुए थे । वे ऊपर से तो ऐसे दीखते थे मानो आत्मा या परमात्मा में चित्त को लगाए हुए हैं लेकिन वास्तविक बात कुछ और ही थी । राजा श्रेणिक ने प्रसन्नचन्द्र ऋषि को इस प्रकार ध्यान में बैठे देखा । उसे आश्चर्य हुआ कि इन ऋषि का ऐसा प्रगाढ़ ध्यान है ! इस प्रकार उनके ध्यान से प्रभावित होकर राजा ने भगवान् से पूछा- प्रभो ! प्रसन्नचन्द्र ऋषि का जैसा ध्यान मैंने देखा है वैसा

ध्यान किसी दूसरे का नहीं देखा । अगर वे इस समय शरीर का त्याग करें तो किस गति को प्राप्त हों ?

राजा श्रेणिक के प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा– अगर वे इस समय काल करें तो सातवें नरक में जाएं ।

यह उत्तर सुनकर श्रेणिक के आश्चर्य का ठिकाना न रहा । उसने पूछा–भगवान् ऐसा क्यों ? और जब ऐसे ध्यानी महात्मा सातवें नरक में जाएंगे तो मुझ जैसे पानी की क्या गति होगी? प्रभो ! स्पष्ट रूप से समझाइए कि सबसे अधिक वेदना वाले सातवें नरक में वे महात्मा क्यों जाएंगे ?

भगवान् ने गम्भीरतापूर्वक उत्तर दिया–राजन्, अब उनकी भाव–स्थिति बदली है । अतएव इस समय काल करें तो सवार्थसिद्ध विमान में उत्पन्न हों !

भगवान् की वाणी पर अटल श्रद्धा रखता हुआ भी श्रेणिक राजा गड़बड़ में पड़ गया । उसने सोचा – कहां सवार्थसिद्ध विमान और कहां सातवां नरक ! दोनों परस्पर विरोधी दो सिरों पर हैं । एक सांसारिक सुख का सर्वोत्तम स्थान है और दूसरा दुःख का सर्वोत्तम स्थान है ! एक का जीवन अगले भव में मोक्ष जाना ही है और दूसरे से निकलने वाला अगले भव में मोक्ष जा ही नहीं सकता ! क्षणभर में इतना बड़ा भारी परिवर्तन ! यह कैसे सम्भव है ? इस प्रकार सोचकर श्रेणिक ने फिर प्रश्न किया–प्रभो अभी–अभी तो आपने सातवें नरक के लिये कहा था और अब आप सर्वार्थसिद्ध विमान में उत्पन्न होने की बात कहते हैं आखिर इसका कारण क्या है ?

राजा श्रेणिक इस प्रकार प्रश्न कर ही रहा था कि उसी समय देवदुंदुभि का श्रुतिमधुर निर्घोष राजा के कानों में सुनाई दिया । राजा ने पूछा–प्रभो ! यह दुंदुभी कहां और क्यों बज रही है ?

भगवान् ने कहा प्रसन्नचन्द्र ऋषि सर्वज्ञ हो गये हैं !

राजा श्रेणिक चकित रह गया ! उसने कहा–देवाधि–देव ! कुछ समझ में नहीं आया ! अभी आपने कहा था कि अभी काल करें तो सातवें नरक में जाएं, फिर कहा कि सर्वार्थसिद्ध विमान में जाएं, और अब आप कहते हैं कि वे सर्वज्ञ हो गये हैं ! मैं इसका मर्म समझना चाहता हूं और उनका चरित सुनने की इच्छा करता हूं । मुझ अज्ञ प्राणी पर अनुग्रह कीजिये !

भगवान् ने कहा–राजन् ! प्रसन्नचन्द्र ऋषि पोतनपुर के राजा थे । उन्हें संसार से वैराग्य हो गया और वे संयम ग्रहण करने के लिये उद्धत हुए । मगर उनके सामने एक समस्या खड़ी हुई कि लड़का अभी छोटा है । इसे किसके सहारे छोड़ा जाये ? इस विचार के कारण संयम ग्रहण करने में विलम्ब हो रहा था । परन्तु उनके किसी हितैषी ने अथवा उनके अन्तरात्मा ने कहा कि धर्मकार्य में ढील नहीं करना चाहिये । 'शुभस्य शीघ्रम' होना चाहिये ।

प्रसन्नचन्द्र ने कहा – तुम्हारा कहला ठीक है । मुझे संसार से विरक्ति हो गई है और वह विरक्ति ऊपरी नहीं भीतरी है, क्षणिक नहीं, स्थायी है, मगर विलम्ब का कारण

है कि पुत्र छोटा है । उसे किसके भरोसे छोड़ा जाये ।

प्रसनचन्द्र के इस कथन का उन्हें उत्तर मिला अगर आज ही तुम्हें मृत्यु आ घेरे तो छोटे बालक की रक्षा कौन करेगा ? वैराग्य के साथ मोह–ममता के यह विचार शोभा नहीं देते । प्रसन्नचन्द्र राजर्षि को यह कथन ठीक मालूम हुआ और उन्होंने संयम लेने की तयारी की । संयम लेने से पहले उन्होंने अपने पांच सौ कार्यकर्त्ताओं को बुला कर उनसे कहा–यह बालक छोटा है । यह तुम्हारे सहारे है । जब तक यह बड़ा न हो जाये, इसकी संभाल रखना । कर्मचारियों ने आश्वासन देते हुए कहा आपकी आज्ञा प्रमाण है । हम राजकुमार को संभाल करेंगे और प्राण भले ही दे देंगे मगर इन्हें किसी प्रकार का कष्ट नहीं होने देंगे ।

प्रसन्नचन्द्र ने पूर्ण वैराग्य के साथ संयम ग्रहण किया। मगर ऐसे उत्कट वैरागी को भावना में भी दूषण लग गया था। अतएव तुम्हारे पूछने पर मैंने यह कहा था कि यदि वे इस समय काल करें तो सातवें नरक में जावें ।

राजा श्रेणिक ने फिर प्रश्न किया–प्रभो ! उनकी भावना किस प्रकार दूषित हुई ?

भगवान् – जिस समय तुम सेना लेकर यहां आ रहे थे, उस समय प्रसन्नचन्द्र ऋषि ध्यान में बैठे थे । तुम अपने सेना के आगे–आगे दो आदमियों को इसलिए चला रहे थे कि वे भूमि देखते रहें और कोई जीव कुचल न जाये । दोनों आदम मार्ग साफ करते जाते । उन दोनों ने भी प्रसन्नचन्द्र ऋषि को देखा । उनमें से एक ने कहा–यह महात्मा कितने त्यागी और

कैसे तपस्वी हैं । देखो, कि तरह ध्यान में डूबे हुए हैं ! इनके लिये जगत् की सम्पदा तुच्छ है ।

एक आदमी के इस प्रकार कहने पर दूसरे ने कहा तू भूल रहा है । यह महान् पापी और ढोंगी है । इसके समान पापी और ढोंगी शायद ही कोई दूसरा होगा ।

पहले आदमी ने आश्चर्य पूछा–क्यों ! यह पापी क्यों है?

दूसरा आदमी बोला अपने नादान बालक को अपने कर्मचारियों के भरोसे छोड़ कर साधु हुआ है । मगर उन कर्मचारियों की नियत बिगड़ गई है । वे सब आपस में मिल गये हैं और राजपुत्र की घात करने की फिराक में हैं । जब वे उसे मार डालेंगे तो यह निपूता मरेगा ! यह इसका पापीपन नहीं है ? इसने कैसी भयानक भूल की है ! दूध की रक्षा के लिए बिल्ली को नियत करना जैसे मूर्खता है उसी प्रकार राजकुमार को कर्मचारियों के भरोसे छोड़ना मूर्खता है। इसकी मूर्खता के कारण ही अज्ञान बालक को अपने प्रणों की आहुति देनी पड़ेगी और यह मरकर नरक में जाएगा !

श्रेणिक, तुम्हारे दोनों आदमियों की आपस की बातें ऋषि प्रसन्नचन्द्र ने सुनी । यह बातें सुनकर उनके वैराग्य की भावना बदल गई । वह सोचने लगे–दुष्ट, कृतघ्न लोग मेरे पुत्र की हत्या करना चाहते है ! मैं ऐसा कदापि नहीं होने दूंगा । मुझमें बल की कमी नहीं है । अब तक मुझे राज्यबल ही प्राप्त था पर अब मैं योगबल का भी अधिकारी हूं । इन

दोनों बलों द्वारा उन दुष्टों को बुरी तरह कुचल दूंगा ।

प्रसन्नचन्द्र ऋषि के चित्त में इस प्रकार अहंकार का उदय हुआ और प्रतिशोध की भावना भी उत्पन्न हुई । वे अपने मन में अनेक प्रकार के संकल्प–विकल्प करने लगे । यहां तक कि वे मन ही मन घोर युद्ध करने लगे और अपने शत्रुओं का संहार करने लगे । जब वे ऐसा कर रहे थे तभी तुमने प्रश्न किया कि वे काल करें तो कहां जावें ? तुम उनहें ध्यान में समझते थे और मैं देखता था कि वे घोर युद्ध में प्रवृत्त हैं। इसी कारण मैंने कहा था कि अगर वे इस समय काल करें तो सातवें नरक में जावें ।

राजा श्रेणिक की उत्कण्ठा और बड़ी । उसने प्रश्न किया भगवन् ! फिर आपने सर्वार्थसिद्ध विमान में जाने के लिए कैसे कहा ?

भगवान् ने उत्तर दिया–प्रसन्नचन्द्र ध्यान–मुद्रा में बैठे–बैठे भी क्रोध के आवेश में आकर युद्ध करने में लगे थे । उसी क्रोधावेश से उनका हाथ अपने मस्तिक पर जा पहुंचा । उन्होंने अपने सिर पर हाथ फेरा तो उन्हें विदित हुआ कि मेरे सिर पर केश नहीं हैं । यह सोचते ही उन्हें सुध आई कि–अरे मैं तो त्यागी हूं ! फिर भी ऐसे प्रपंच में पड़ा हूं ! मैंने जिसे त्याग दिया है, उसी के लिए फिर संसार में जाने की या चिन्ता करने की क्या आवश्यकता है ? जिसे वमन कर दिया है उसे फिर अपनाने का विचार ही अशोभनीय है !

भगवान् ने जो कुछ कहा है और मैंने आपको जो

सुनाया है, वह सिर्फ प्रसन्नचन्द्र ऋषि के सम्बन्ध में ही न समझिये । इस कथन का संबंध अगर उनहीं के साथ होता और आपके साथ न होता तो आपके समक्ष यह कथा रखी ही क्यों जाती ? इस कथा के आधार पर आपको अपने संबंध में विचार करने की आवश्यकता है आप अपने मन की गति पर विचार किजिये । आप यहां बैठे हैं पर आपका मन कहां जा रहा है ? प्रसन्नचन्द्र राजर्षि ध्यान में बैठे थे, परन्तु उनका मन कहां से कहां चला गया था । और उसका परिणाम क्या हुआ? इसी प्रकार आप बैठे तो यहां हैं मगर आपका मन अन्यत्र चला गया तो उसका परिणाम क्या होगा ? आपका मन स्वतन्त्र है ? क्या आप उपयोग करने में भी स्वतन्त्र हैं । जैसा आप चाहें अपने मन का उपयोग कर सकते हैं । जब यह सत्य है तो आप ऐसी जगह बैठकर भी अपने मन को बुरी जगह क्यों जाने देते हैं ? आपको सोचना चाहिये कि आप क्या लेने के लिये यहां आये हैं ? जो कुछ आप लेने आये हैं, वह वस्तु मन को एकाग्र करके आत्मा का स्वरूप देखने से और इस प्रकार आत्मबल प्राप्त करने से ही मिल सकती है । कहा भी है—

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः ।

आत्मा में चित्त की एकाग्रता से ही [illegible] का दर्शन होता है । यही ऐसा बल है जिससे [illegible] को जान सकते हो । अतएव चित्त को [illegible] स्वरूप में स्थिर करो-एकाग्र करो और [illegible] ध्यान रखो कि जिस वस्तु का त्याग [illegible] है [illegible] उसकी ओर मन न

जाये । त्यागी हुई वस्तु की ओर मन के आकर्षित होने का फल क्या होता है, यह बात प्रसन्नचन्द्र ऋषि का वर्णन करते हुए भगवान् ने बतला दी है कि इस दशा में काल करे तो सातवें नरक में जाये ! इसी से कहा भी है –

चतुरायां रीझे नहीं, महा विचक्षण राम ।
रीझे सच्चे प्रेम से, कला न आवे काम ।।

परमात्मा दिखावे से नहीं रीझता । ढोंग परमात्मा को प्रसन्न नहीं कर सकता । परमात्मा की प्रसन्नता अन्तःकरण की शुद्धि पर अवलम्बित है । अतः यहाँ या ध्यान में बैठकर भी यह देखना चाहिए कि मैं वास्तव में परमात्मा की शरण में हूं अथवा विषयों की शरण में हूं ?

भगवान् ने राजा श्रेणिक से कहा–प्रसन्नचन्द्र ऋषि ने जब अपने सिर पर हाथ फेरा और जब उन्होंनें अपनी स्थिति का विचार किया, तब वे सोचने लगे–अरे ! मैंरे यह क्या किया ? संसार का त्याग कर चुकने के पश्चात् फिर संग्राम क्यों ? और जब संग्राम से रक्षा हो सकती है तो क्या एकान्त धर्मसाधना से रक्षा नहीं होगी ? मैंने जिसे त्याग दिया उसके लिये संग्राम करने को उद्यत हो जाना मेरा घोर अधःपतन है! मुझे धिक्कार है !

इस प्रकार की जागृति आते ही उनके परिणामों में सहसा परिवर्तन हो गया । कर्मों का बंध परिणाम के अनुसार ही होता है । कहा भी है–

मन एक मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।

अर्थात् मन ही बन्धन और मोक्ष का प्रधान कारण है । सत्संग आदि मन को शुद्ध रखने के कारण तो हैं, लेकिन फल तो मन के परिणामों के अनुसार ही होता है । जब पानी बरसता है तो नीम को नीम के अनुसार गुण होता है और आम को आम के अनुसार । अब आप सोच देखिये कि आपको क्या बनना है—आम बनना है या नीम बनना है । याद रखो, अपने मनोभावों को विशुद्ध रखोगे तो अच्छा फल पाओगे और यदि मनोभाव कलुषित हुए तो फल भी कलुषित ही प्राप्त होगा । यह एक ऐसी निर्विवाद बात है जो सभी को मान्य है । शास्त्र भी यही कहते हैं, ग्रन्थ भी यही कहते हैं, और कुरान में भी यही कहा है कि—हे मुहम्मद जो खुद से नहीं बिगड़ता है उसे मैं नहीं बिगाड़ता और जो स्वयं से नहीं सुधरता उसे मैं नहीं सुधारता । इस प्रकार अन्तिम बात अपने ही हाथ में हैं । जब कोई व्यक्ति अपनी रक्षा आप करने को उद्यत होता है तभी उसको दूसरे की सहायता भी मिल सकती है । जो अपनी रक्षा आप नहीं करता उसको दूसरे की सहायक भी नहीं मिलती । इसके लिए श्रीकृष्ण का उदाहरण लीजिये —

श्रीकृष्ण ने सब यादवों को एकत्रित करके कहा—अगर तुम मेरी बतलाई हुई तीन बातें मानो तो मैं तुम्हारी रक्षा कर सकता हूं, अन्यथा तुम्हारी रक्षा करने में मैं असमर्थ हूं । यादवों ने पूछा—वे तीन बातें कौनसी हैं ? तब कृष्ण ने कहा—पहली बात यह है कि तुम जुआ न खेलो । जुआ खेलने से कितनी हानि होती है, यह देखना हो तो धर्मराज को देखो । धर्मराज ने अपने भाइयों को और यहां तक कि द्रौपदी को भी

दाव पर लगा दिया था । तुम लोग कैसे भी क्यों न होओ धर्मराज की बराबरी नहीं कर सकते । ऐसी दशा में धर्मराज को भी जब घोर विपत्ति सहनी पड़ी तो तुम जुआ खेल कर विपत्ति से कैसे बच सकते हो ? अतएव जुआ खेलने का त्याग करो ।

आज विदेशियों की संगति से दौड़ आदि के नाम पर जुआ खेला जाता है । नाम चाहे कुछ भी रख लिया गया हो, लेकिन दौड़ आदि के नाम पर लगाई जाने वाली हारजीत जुए के अन्तर्गत है । जुए से होने वाली हानि प्रसिद्ध है । राजाओं का कर्त्तव्य है कि अपने–अपने राज्य में जुए का निषेध करें–उसे रोकें । सुना है यहां (मोरवी में) यों तो जुआ खेलना निषिद्ध है परन्तु जन्माष्टमी के अवसर पर जुआ खेलने की छूट दी जाती है । जो श्रीकृष्ण जुआ न खेलने का उपदेश देते थे उन्हीं के जन्म दिन के अवसर पर जुआ खेलना और राज्य की ओर से इसकी छूट होना कितना अनुचित है ? मेरा ख्याल है कि महाराज स्वयं तो जुआ खेलने के समर्थक नहीं होंगे मगर आप लोगों की आदत देखकर या आपकी खुशामद में पड़कर ही जुआ खेलने की छूट देते होंगे। अगर ऐसा नहीं है तो आप लोग महाराजा साहब से जुआ बन्द कर देने की प्रार्थना करें तब क्या महाराजा साहब हुआ बन्द नहीं करेंगे ?

(पूज्यश्री के यह फरमाने पर महाराजा मोरवी ने कहा मैं तो जुआ बन्द कर दूंगा और उसके लिए आज्ञा जारी कर दूंगा; लेकिन आप इन लोगों से कहिये कि यह छिपकर जुआ

न खेलें । जाहिरा खेलने वालों को तो रोका जा सकता है, मगर छिपकर खेलने वालों का क्या किया जाये ? उन्हें तो आप ही रोक सकते हैं ।)

महाराजा साहब के यह कहने पर पूज्यश्री ने फरमाया--प्रसन्नता की बात है कि आप लोगों के कल्याण के लिये महाराजा साहब ने जुआ बंद कर देना स्वीकार किया है। अब आपका कर्तव्य है कि आप छिप कर जुआ न खेलें । अच्छा यह होगा कि आप जुआ खेलने का ही त्याग कर लें।

(पूज्यश्री की इस हार्दिक प्रेरणा से व्याख्यान सभा में उपस्थित समस्त नर--नारियों ने जुआ खेलने का त्याग कर दिया ।)

महाराजा साहब ने एक अच्छा उदाहरण उपस्थित किया है । इस उदाहरण को सामने रख कर दूसरी जगह भी जुए का खेल बन्द कराया जा सकता है । अलबत्ता प्रयत्न करने वाले चाहिये ।

गिनती में हैं ? आप विपदा से कैसे बच सकते हैं ?

महाराजा साहब आपका कल्याण चाहते हैं । इस कल्याण–कामना से प्रेरित होकर ही उन्होंने द्यूत–प्रतिबंधक आज्ञा जारी करना स्वीकार किया है । अगर आपके कल्याण की भावना न होती तो महाराजा का क्या बिगड़ता था ? आप जुआ खेलते थे और महाराजा साहब को लाभ होता था । वे उस लाभ को क्यों त्यागते ? आपका जुआ खेलना बंद करके महाराजा ने आपके ऊपर अनुग्रह किया है और साथ ही स्वार्थत्याग भी किया है । ऐसी स्थिति में आप सबका कर्त्तव्य है कि आप महाराजा की इस आज्ञा के पालन में सहायक बनें और न स्वयं लुक–छिप कर जुआ खेलें और न दूसरों को खेलने दें ।

कृष्ण ने यादवों से कहा–प्रथम तो आप लोग जुआ न खेलें और दूसरी बात यह है कि आप मदिरा पान न करें ।

बुद्धि लुम्पति यद् द्रव्यं मदकारि तदुच्यते ।

जिससे बुद्धि नष्ट होती है वह सब मद्य कहलाता है । मद्य के सेवन से महान् अनर्थ होते हैं । आज की सरकार भी इस बात को समझ गई है । इसी कारण बंबई आदि की कई प्रान्तीय सरकारों ने शराबबंदी की योजना बनाई है । मगर ऐसी चीजों का सत्ता के द्वारा बंद होना और बात है तथा धर्म से बंद होना और बात है तथा धर्म से बंद होना और बात है । कोई भी धर्म मदिरा के सेवन का समर्थन नहीं करता । इस्लाम मजहब में भी नशा करना हराम है । ऐसी स्थिति में

भी अगर कोई आदमी छिपकर पाप करता है तो उसे क्या कहा जाये ? मैंने किसी बोहरे के लड़के को बीड़ी पीते नहीं देखा, लेकिन आपके लड़कों का क्या हाल है ? आप मेरे शिष्य कहलाते हैं और आपके लड़के बीड़ी पीते हैं, यह कितनी बुरी बात है ? मगर जब आप स्वयं बीड़ी पीएंगे तो आपके लड़कों के संस्कार किस प्रकार अच्छे रह सकते हैं ? आप अपने लड़कों को व्यसनहीन और सुसंस्कारी बनाना चाहते हैं तो आप स्वयं ऐसे बन जाइए । बालक अपने बुजुर्गों का अनुकरण करता है । जब कोई बुजुर्ग बिगड़ता है तो वह स्वयं ही नहीं गिड़ता बल्कि अपने बाल–बच्चों को भी गिाड़ता है, क्योंकि छोटे सदा बड़ों आ अनुकरण करते हैं । सुना है कि स्कूलों में कई अध्यापक बीड़ी पीकर फैंक देते है और लड़के उन टुकड़ों को उठा कर पीते हैं । लड़के सोचते है बीड़ी में कुछ मजा होगा तभी मास्टर साहब पीते हैं ! मैं जब बहुत छोटा था तब बेलों के सूखे ड़ंठलों को तमाखू के रूप में पीता था और ऐसा मुंह बनाता, मानों बड़ा आनन्द आया हो! तमाखू से क्या हानि–लाभ है, यह तो जानता नहीं था, केवल अनुकरण किया करता था गांधीजी ने लिखा है कि अनुकरण के कारण उनमें भी बीड़ी पीने का पाप आ गया था। इस पाप के कारण वे घर में चोरी करने लगे और जब चोरी से काम न चला तो मरने के लिए तैयार हो गये । इस तरह बीड़ी के कारण अनेक अवांछनीय परिस्थितियां उत्पन्न ही जाती है ।

बीड़ी की तरह चाय का भी प्रचार बहुत हो गया है । चाय का प्रचलन हो भले गया हो मगर समझदार लोगों का

गिनती में हैं ? आप विपदा से कैसे बच सकते हैं ?

महाराजा साहब आपका कल्याण चाहते हैं । इस कल्याण–कामना से प्रेरित होकर ही उन्होंने द्यूत–प्रतिबंधक आज्ञा जारी करना स्वीकार किया है । अगर आपके कल्याण की भावना न होती तो महाराजा का क्या बिगड़ता था ? आप जुआ खेलते थे और महाराजा साहब को लाभ होता था । वे उस लाभ को क्यों त्यागते ? आपका जुआ खेलना बंद करके महाराजा ने आपके ऊपर अनुग्रह किया है और साथ ही स्वार्थत्याग भी किया है । ऐसी स्थिति में आप सबका कर्तव्य है कि आप महाराजा की इस आज्ञा के पालन में सहायक बनें और न स्वयं लुक–छिप कर जुआ खेलें और न दूसरों को खेलने दें ।

कुमार ने मांगों में पहला–प्रणाम तो आप लोग जुआ न खेलें और दूसरी बात यह है कि आप मदिरा पान न करें ।

बुद्धि लुम्पति यद् द्रव्यं मदकारि तदुच्यते ।

जिससे बुद्धि नष्ट होती है वह सब मद कहलाता है । मद के सेवन से महान अनर्थ होता है । आज की सरकार भी इस बात को समझ गई है । इसी कारण बंबई आदि की कई प्रान्तीय सरकारों ने मद्यबंदी की योजना बनाई है । [illegible] शराब बंद होना और [illegible] [illegible]

बड़ी भयंकर बात समझिये । जब स्त्री और पुरुष दोनों ही चाय के शौकीन हो जाएं तो फिर चाय को डर की किसका रहा ! घर में उसका स्वच्छन्द विहार होगा और वह बाल–बच्चों के प्राणों को भी चूसे बिना नहीं रहेगी । अतएव इस दुर्व्यसन का त्याग करने के सम्बन्ध में भी विचार करना चाहिये ।

श्रीकृष्ण ने यादवों से कहा–तीसरी बात यह है कि तुम लोग व्यभिचार का सेवन मत करो ।

इस प्रकार कृष्णजी ने यादवों के कल्याण का विचार करके उन्हें तीन बातें बतलाई मगर यादवों ने कृष्ण का कहना नहीं माना । उन्होंने इन तीनों का त्याग नहीं किया । परिणाम क्या निकला ? दुर्व्यसनों के कारण वे आपस में मूसल से एक दूसरे का सिर फोड़ कर मर गये ।

दुर्व्यसनों से इस प्रकार हानि होती है । अतएव इनसे दूर रहने में ही भलाई है । मेरा कार्य तो आध्यात्मिक बातों को बतलाना है लेकिन आध्यात्मिकता के मार्ग में रोड़ अटकाने वाली ये आधिभौतिक वस्तुएं हैं । इनका त्याग करने पर ही अध्यातमसाधना का मार्ग सरल और साफ हो सकता है । इसलिए मुझे आपके सामने ये बातें रखनी पड़ती है ।

जब यादवों का विनाश हो रहा था तब श्रीकृष्ण हंस रहे थे । किसी ने कहा–परिवार का सफाया हो रहा है और आप इस प्रकार हंस रहे हैं ? इसके उत्तर में कृष्णजी बोले मैं रोने के लिये नहीं हूं । मैंने समझा दिया था कि तुम लोग दुर्व्यसनों का त्याग कर दो, अन्यथा तुम्हारी रक्षा नहीं हो

कहना है कि चाय हानि करने वाली चाज है । अतएव इस पाप को भी त्यागने की आवश्यकता है । यह मत देखो कि इसका प्रचार बहुत लोगों में हो गया हैं । यह भी मत सोचो कि सभ्य कहलाने वाले लोग इसका सेवन करते हैं । जब यह निश्चित है कि चाय हानिकारक है तो फिर कोई भी उसका सेवन क्यों न करे, वह हानिकारक ही रहेगी । जिस हानि करने वाली चीज का प्रचार हो जाता है, उसी का निषेध किया जाता है । कहा जाता है कि उबलते हुए पानी में दूध डालने से दूध का सत्व नष्ट हो जाता है । सुना है कि मोरवो में चाय के लिये अस्सी मन दूध आता है ! कई स्थानों पर चाय का व्यवहार बंद करने के लिये होटलों पर टैक्स बढ़ा दिया गया, लेकिन इसका कोई अभीष्ट परिणाम नहीं आया । होटल वाले पैसे बचाने के लिये दूध के बदले भ्रष्ट चीजें डाल देते हैं और इस प्रकार वे तो अपने टैक्स की पूर्ति कर लेते हैं परन्तु ग्राहकों को मूर्ख बनना पड़ा है !

सरकारी आदेश से ऐसी चीजों के बन्द होने की अपेक्षा प्रजा स्वयं समझ कर बन्द कर दे तो कितना अच्छा हो ! अगर आप लोग विचार करें तो राज्यसत्ता की भी सहायता मिल सकती है और चाय के पाप से आपका छुटकारा हो सकता है ।

आपके यहां चाय का इतना अधिक प्रचलन हो गया है बहिनें भी चाय पीने लगी है और यह कोई बुरा काम नहीं समझा जाता है । मैंने तो यहां तक सुना हे कि उपवास करने वाली बाइयां पारणा करते समय पहले चाय लेती है । यह

बड़ी भयंकर बात समझिये । जब स्त्री और पुरुष दोनों ही चाय के शौकीन हो जाएं तो फिर चाय को डर की किसका रहा ! घर में उसका स्वच्छन्द विहार होगा और वह बाल-बच्चों के प्राणों को भी चूसे बिना नहीं रहेगी । अतएव इस दुर्व्यसन का त्याग करने के सम्बन्ध में भी विचार करना चाहिये ।

श्रीकृष्ण ने यादवों से कहा-तीसरी बात यह है कि तुम लोग व्यभिचार का सेवन मत करो ।

इस प्रकार कृष्णजी ने यादवों के कल्याण का विचार करके उन्हें तीन बातें बतलाई मगर यादवों ने कृष्ण का कहना नहीं माना । उन्होंने इन तीनों का त्याग नहीं किया । परिणाम क्या निकला ? दुर्व्यसनों के कारण वे आपस में मूसल से एक दूसरे का सिर फोड़ कर मर गये ।

दुर्व्यसनों से इस प्रकार हानि होती है । अतएव इनसे दूर रहने में ही भलाई है । मेरा कार्य तो आध्यात्मिक बातों को बतलाना है लेकिन आध्यात्मिकता के मार्ग में रोड़ अटकाने वाली ये आधिभौतिक वस्तुएं हैं । इनका त्याग करने पर ही अध्यातमसाधना का मार्ग सरल और साफ हो सकता है । इसलिए मुझे आपके सामने ये बातें रखनी पड़ती है ।

जब यादवों का विनाश हो रहा था तब श्रीकृष्ण हंस रहे थे । किसी ने कहा-परिवार का सफाया हो रहा है और आप इस प्रकार हंस रहे हैं ? इसके उत्तर में कृष्णजी बोले मैं रोने के लिये नहीं हूं । मैंने समझा दिया था कि तुम लोग दुर्व्यसनों का त्याग कर दो, अन्यथा तुम्हारी रक्षा नहीं हो

सकती । मगर ये लोग नहीं माने । अब इनकी रक्षा हो तो कैसे हो ? प्रत्येक व्यक्ति स्वयं ही अपनी रक्षा कर सकता है और स्वयं ही अपना विनाश कर सकता है। एक की रक्षा या विनाश दूसरे के हाथ में नहीं है । आचारांगसूत में कहा –

पुरिसा ! तुममेव तुम मित्तं ।

हे पुरुष ! तू अपना मित्र आप ही है ।

श्रीकृष्ण ने भी यही कहा है कि अपना उद्धार आप करो। अतएव मन, वचन और काम से शुद्ध होकर चित्त की वृत्तियों को आत्मा के स्वरूप दर्शन में एकाग्र करो । ऐसा करने पर आप परमात्मा को जान सकेंगे, सब प्रकार के संकटों से मुक्त हो जाएंगे और शांतिलाभ कर सकेंगे ।

गुरुकुल के जो छात्र मुझसे आशीर्वाद लेने आये हैं, उनमें मैं यही कहना चाहता हूं कि वे अपने आपको सब प्रकार के दुर्व्यसनों से बचाते रहें और अपने जीवन को आदर्श बना कर सब पर छाया करें । वृक्ष जब तक छोटा रहता है तब तक उसकी रक्षा करने की आवश्यकता रहती है । बड़ा हो जाने पर वह स्वयं दूसरों की रक्षा करता है–शांत पथिकों को छाया देता है, फल–फूल देता है । आज विद्यार्थियों को भी ऐसा ही बनना है । संसार नाना प्रकार के संतापों से संतप्त है, विविध प्रकार की व्याधियों से व्याकुल है । उसे शांति पहुंचाने की आवश्यकता है और यह निश्चित है कि संसार में शान्ति के साम्राज्य का प्रसार वही कर सकता है जिसकी वुद्धि अभ्रान्त होगी, जिसके संस्कार उत्तम होंगे, जो विवेक को

आगे करके पैर बढ़ाएगा । आज के विद्यार्थी भविष्यकाल के पथप्रदर्शक बनें और संसार का कल्याण करें यही मेरा शुभाशीर्वाद और शुभकामना है ।

---

7 : श्रीकृष्ण

श्री महावीर नमूं वर नाणी ।

यही भगवान् महावीर की प्रार्थना है । भगवान् महावीर ने इस संसार को शांति का उपदेश दिया है । जिस समय भारत में दार्शनिक कलह हो रहा था उस समय भवान् महावीर ने स्याद्वाद का प्रचार करके जगत् को यह संदेश सुनाया था—परस्पर में क्यों लड़ते हो ? पारस्परिक मतभेद और तज्जन्य कलह का कारण हैं अपूर्ण दृष्टि से विचार करना । अगर तुम्हारी दृष्टि में पूर्णता आ जाए तो कलह के लिए अवकाश ही नहीं रह सकता । विरोध का मूल एकांतवाद है । दृष्टि जब संकीर्ण होती है, तब मनुष्य मानने लगता है

कि बस सत्य उतना ही है जितना मैं जानता हूं और वही है जिसे मैं कहता हूं । मेरे विचार के विरुद्ध जितने भी विचार हैं सब असार हैं, भ्रम हैं, मिथ्या हैं, इसी प्रकार की विचारधारा दार्शनिक जगत् में कलह का बीजारोपण करती है और धर्म के क्षेत्र में अभिनिवेश उत्पन्न करके अशांति का आह्वान करती है ।

भगवान् महावीर ने कहा–अभिनिवेश त्यागो । दृष्टि की संकीर्णता को हटाओ । सत्य इतना तुच्छ नहीं है कि वह पूरा का पूरा तुम्हारे संकुचित मस्तिष्क की परिधि में समा जाये । उसकी पूर्णता समझने के लिये मस्तिष्क को विशाल बनाना पड़ता है । अनेक दृष्टिकोणों से उसे देखना पड़ता है तब कहीं वह समझ में आ सकता है । सम्पूर्ण सत्य विविध नयों–दृष्टिकोणों के बिना समझ में नहीं आता । अपेक्षावाद से विचार करो । ऐसा करने पर तुम वास्तविकता को भी समझ जाओगे और आपस की कलह से बच जाओगे ।

वस्तु तत्त्व को विविध नयों से देखना ही सत्य का दर्शन करना है । यही जैन दृष्टि है । यही भगवान् महावीर की दृष्टि है । यह पूर्ण दृष्टि है । इस दृष्टि से विचार करने पर किसी प्रकार का दार्शनिक मतभेद नहीं रहता । जैनदृष्टि, वादी या प्रतिवादी तो अपने–अपने पक्ष का ही समर्थन करते हैं, लेकिन न्यायाधीश वादी और प्रतिवादी दोनों की बात सुनकर तथा दोनों के पक्ष पर विचार करके सत्य की खोज करता है और अपना निर्णय देता है । न्यायाधीश किसी एक पक्ष को लेकर वाद–विवद में नहीं पड़ता । इसी प्रकार जिसे

जैन–दृष्टि प्राप्त है, वह भी किसी तरह के वाद–विवाद में नहीं पड़ता । वह सब का कथन सुनकर सत्य की खोज करके उसे अपनाता है ।

यों तो प्रत्येक दर्शन पूर्ण होने का दावा करता है, पर प्रत्येक दर्शन दूसरे दर्शन को अपूर्ण और भ्रांत कहने में संकोच नहीं करता । मगर जैन दर्शन इन से निराला है यह विविध नयों की अपेक्षा से सभी दर्शनों को आंशिक रूप से सत्य स्वीकार करता है । पर संग्रहनय की अपेक्षा से वह वेदान्तदर्शन के अर्द्धतवाद की सत्यता को स्वीकार करता है। द्रव्यार्थिकनय से सांख्यमत के नित्यता बाद का अंगोकार करता है । वैशेषिकदर्शन के परमाणु वाद को उसमें स्थान है और पतंजलि के योग–दर्शन को भी वह अस्वीकृत नहीं करता । लेकिन जैनदर्शन का कथन है कि इन सब दृष्टियों में से जब एक दृष्टि को ग्रहण करके दूसरी दृष्टियों का तिरस्कार किया जाता है, तब वह दृष्टि मिथ्या हो जाती है । कारण यह है कि प्रत्येक वस्तु में परस्पर विरोधी सरीखे प्रतीत होने वाले अनन्तधर्म हैं और उनमें से एक को अंगीकार करके शेष को अस्वीकार करना असत्य है । अपेक्षावाद सबके विरोध का मंथन करने वाला है । कहा भी है –

विरोधमथनं हिं स्याद्वादः ।

अर्थात् एक दर्शन का दूसरे दर्शन के साथ अथवा एक धर्म का दूसरे धर्म के साथ जो विरोध प्रतीत होता है, उसका अंत स्याद्वाददर्शन से होता है । इस प्रकार जेन दृष्टि पूर्ण है वह नयवाद या अपेक्षावाद से सब के कलंह मिटाती है ।

अतएव इस पूर्ण को अपनाना योग्य है । भगवान् महावीर का कथन है कि केवल अपनी ही बात न पकड़ बैठो किन्तु दूसरे का भी पक्ष सुनो और अपना पक्ष दूसरे को समझाओ । अपनी दृष्टि विशाल रखो । ऐसी संकीर्ण दृष्टि मत रखो कि मेरे सिवाय दूसरे सब गलत कहते हैं । मैं जो कहता हूं वह सही है । दूसरों की बात सुननी ही नहीं चाहिये ।

यद्यपि भगवान् महावीर यही कह गये हैं परन्तु भगवान् की कही हुई बात आज ग्रन्थों में ही रह गई है । आज उदारता का व्यवहार कम देखा जाता है । सामान्य लोग किसी धर्म के सिद्धान्तों को न देख कर उस धर्म के अनुयायियों के व्यवहार को देखकर धर्म के सिद्धान्तों का अनुमान लगाते हैं । अतएव हमें याद रखना चाहिये कि हमारे व्यवहार से ही लोग हमारे सिद्धान्तों के विषय में निर्णय कर लेते हैं । हमारी संकुचितता से लोग जैनदृष्टि को भी संकुचित समझ लेते हैं। जो लोग केवल व्यवहार को नहीं वरन् जैनशास्त्र को देखेंगे उन्हें मालूम होगा कि जैनदृष्टि कितनी विशाल हे । जैनशास्त्रों कसे जैनदृष्टि की विशालता को समझो और यदि आपको यह ठीक मालूम हो तो उसे अपनाओ ।

आज कृष्णजन्म के विषय में कुछ कहना चाहता हूं । इस सम्बन्ध में भी भगवान् महावीर की दृष्टि से विचार करूंगा अगर किसी की बात उचित न मालूम हो या ठीक तरह समझ में न आये तो वह स्पष्ट कह सकता है । न्यायसंगत विचार का मैं सदा स्वागत करूंगा ।

भगवान् महावीर की दृष्टि से कृष्ण का चरित्र शास्त्रों

और कथाग्रन्थों में पाया जाता है । त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र मे भी कृष्ण का चरित्र वर्णन किया गया है और समवायांगसूत्र में दशार्ह के वर्ण के आधार पर कुछ कहता हूं । अपने को श्रीकृष्ण के चरित्र पर भी भगवान् महावीर द्वारा बताई गई पूर्ण दृष्टि के आधार पर विचार करना चाहिये ।

श्रीकृष्ण को जैन अपनी दृष्टि से मानते हैं, वैष्णव अपनी दृष्टि से मानते हैं और राष्ट्रवादी अपनी दृष्टि से मानते हैं इस प्रकार भिन्न–भिन्न लोग विभिन्न दृष्टियों से कृष्ण को मानते हैं । कृष्ण सभी के हितैषी भी थे । आप भी अगर पूर्ण दृष्टि से विचार करें तो आपको मालूम होगा कि कृष्ण सबके हितैषी थे । जैनदृष्टि नाम के भेंद को वस्तु का भेद नहीं मानती और तत्त्व को देखती है । उसका कहना है –

राम कहो रहमान कहो कोई कान्हा कहो महादेव री ।

श्री हेमचन्द्राचार्य ने भी यही कहा है –

यज्ञ तत्र समये तशा यो सि सो स्यभिघया यया तया ।
वीतदोषकलुषः स चेत् भवान् एक एव भगवन्नमो स्तु ते ।।

किसी भी परम्परा में हो, कुछ भी नाम हो, जो निर्दोष है और निष्कलुष है, उसे नमस्कार हो ।

अतएव ज्ञान को लेकर झगड़ा न करो । आवश्यकता है गुण देखने की । केवल नाम देखने से झगड़ा होता है । गुण देखे जाएं तो फिर किसी प्रकार का झगड़ा शेष नहीं रहता । एक ने राम कहा और दूसरे ने रहीम कहा । मगर

देखना चाहिये कि जिसे राम कहा गया है और जिसे रहीम कहा गया है, उसके गुण क्या है ? अगर दोनों के गुण एक है तो उन नामों के अर्थ में कोई वास्तविक भेद नहीं होगा । कहा है –

निजगुण रमे राम सो कहिए, रहम करे रहमान री ।

जो अपने आत्म–गुणों में रमण करता है वही राम है और जो रहम करता है वह रहीम या रहमान कहलाता है । ऐसा होने पर भी अगर कोई आदमी राम या रहीम का नाम लेकर बेईमानी करता है तो उसके लिये यही कहा जाएगा कि वह झूठा है । ऐसा करना राम या रहीम का सच्चा मार्ग नहीं कहा जा सकता । जो ऐसा करता है उसने केवल नाम ही देखा है, गुण नहीं देखे ।

मतलब यह है कि नाम कुछ भी हो, महापुरुषों के काम जगत् के हित के लिये ही होते हैं और इसी कारण सब लोग उन्हें अपना–अपना मानते हैं । अतएव कृष्णजी के चरित्र पर विशाल दृष्टि से विचार करना चाहिये । यह नहीं समझना चाहिये कि कृष्ण सिफ वैष्णवों के ही थे । यह भी नहीं सोचना चाहिये कि हमें कृष्ण का चरित्र सुनने की क्या आवश्यकता है! अगर हमारी दृष्टि तत्त्व पर न पहुंची तो यही कहा जाएगा कि अभी हमारी दृष्टि में विशालता नहीं है । अगर आप नाम के बदले काम देखेंगे तो तत्त्व पर पहुंच जाएंगे ।

महापुरुषों के नाम उनके गुणों की दृष्टि में रखकर ही लिये जाते हैं । मगर आजकल प्रायः नाम ही लिया जाता है,

महापुरुषों के गुण नहीं देखे जाते । उन महापुरुषों ने अपने जीवन में कैसे-कैसे काम किये हैं और हमें क्या करना चाहिए, यह बात लोग भूल रहे हैं । महापुरुषों के काम को न देखने के कारण ही आज भेद दिखाई दे रहा है । महापुरुषों का जीवन जगत्-हित में रत रहता है या यों कहना चाहिये कि जो अपने जीवन को जगत् के हित के अर्थ उत्सर्ग कर देता है, वह महापुरुष कहलाता है । अतएव किसी भी महापुरुष का वास्तविक जीवन समझने के लिए उनके कर्त्तव्यों को समझना आवश्यक है । जब आपका ध्यान कर्त्तव्यों की ओर जाये जायेगा तब आप उनके जीवन का महत्व समझ पाएंगे ।

आज कृष्ण का जन्म दिन है । कृष्ण ने किसी से अपना जन्म-दिन मनाने के लिए नहीं कहा । फिर भी उनकी जयन्ती मनाई जाती है । अगर उन्होंने अपने जीवन में जगत् हित के कार्य न किये होते तो आज कौन उनकी जयन्ती मनाता ? मगर उन्होने जगत् का हित किया और संसार में आनन्द बरसाया । इसी कारण उनका जन्मदिन मनाया जाता ।

जगत् का हित करने के लिये कृष्ण का यह चरित आपके सामने कांच की तरह है । इस कांच में आप अपना चरित्र देखो और सोचो कि कृष्ण ने क्या किया था और आप क्या कर रहे हैं ? कृष्ण-चरित्र सुनकर भी अगर आपने जगत् के हित के काम न किये वरन् अपनी ही स्वार्थ साधना में रचे-पचे रहे तो उस दशा में आप श्रीकृष्ण का चरित्र सुनने के योग्य भी नहीं रह सकते ।

कोई कह सकता है कि आजकल संसार बड़ी तेजी के साथ बदलता जा रहा है । हमें कल की बात भी आज पसन्द नहीं आती । ऐसी स्थिति में हजारों वर्ष पुरानी बात कैसे पसन्द आ सकती है ? इन बीच के हजारों वर्षों में दुनिया बहुत बदल गई है । सामाजिक और राष्ट्रीय समस्याएं कुछ की कुछ हो गई है । लोगों की भावनाएं भी परिवर्तित हो गई है । तब हजारो वर्षो पहले के विधि–विधान आज किस प्रकार लागू हो सकते हैं ?

ऐसा कहने वालों को समझना चाहिये कि जिनमें जीवन है, वे कृष्ण की जयन्ती को पुरानी समझकर उसकी उपेक्षा नहीं कर सकते । हां, जिनमें जीवन ही नहीं है वे भले ही ऐसा कहें । बालक माता का दूध पीता है । क्या वह कहता है कि यह दूध तो वही है जो मैंने कल पीया था ? ऐसा कहकर क्या वह माता के दूध को उपेक्षा करता है ? बालक अपनी माता के स्तन की, यह कहकर अवज्ञा नहीं करता कि यह स्तन पुराना है । माता का स्तन उसे सदा नया–नया ही लगता है । लेकिन बालक ऐसा तभी मानता है जबकि वह जीवित हो । यदि वह जीवित है तो उसे अपनी माता नित्य नई ही लगती है और वह यही सोचता है कि मेरी माता उन्नति मेरी चाहती है, मुझे नित्य अमृत–सा दूध पिलाती है, मुझे दीन–हीन नहीं बनाना चाहती और न मुझे अवनत ही होने देना चाहती है ।

इसी प्रकार आप सोचे कि यह कृष्ण चरित आपको जीवन देने वाला है, हमारी उन्नति करने वाला है, तो आपको भी यह पुराना नहीं लगेगा । उस दशा में आप यह नहीं कहेंगे

लेकिन जब लोगों में धर्म के प्रति इस तरह की भावना फैलती है और धम्र की उपेक्षा होने लगती हे तब कोई न कोई महापुरुष यह समझाने के लिये आता ही है कि धर्म की जरूरत व्यक्ति के लिये ही नहीं किन्तु समष्टि के लिए भी है। धर्म की बदोलत संसार में थोड़ी–बहुत शांति दिखाई देती है। जव धर्म नहीं होगा या सार्वजनिक जीवन व्यतीत करने वालों के लिये धर्म की आवश्यकता नहीं समझी जायेगी तो निस्संदेह कहा जा सकता है कि संसार में हाहाकार मच जाएगा । कृष्ण ने जन्म लेकर लोगों को यही समझाया था ।

यद्यपि संसार में शांति के लिए धर्म की आवश्यकता है लेकिन आज धर्म की इस तरह उपेक्षा की जाती है जैसे विना वाप के वेटे की । जैसे विना वाप के वेटे की कद्र नहीं होती उसी प्रकार धर्म की वेकद्री हो रही है । कई लोग कहने लगते हैं–हम धर्म के मामले में स्वतन्त्र है । धर्म को मानना या न मानना हमारी इच्छा पर निर्भर है । लेकिन ज्ञानियों का कथन है कि–याद रखो धर्म की उपेक्षा मत करो । धर्म पर शक्ति–विशेष का संरक्षण है यह वात कहने भर के लिये नहीं है, किन्तु जव भी धर्म की उपेक्षा होने लगती है तभी वह शक्ति किसी न किसी रूप में जन्म देती है । और वतला देती है कि संसार में धर्म की आवश्यकता है । संसार की शांति के लिये धर्म का अस्तित्व अनिवार्य है । धर्म की अवहेलना नहीं की जा सकती ।

शक्ति एक गुण है और गुण, गुणी के आधार पर ही रह सकता है । अतएव धर्म की शक्ति भी किसी व्यक्ति के रूप में

ही जन्म लेती है । इसीलिये महापुरुषों के लिये कहा जाता है –

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।

अर्थात्–महापुरुष धर्म का परित्राण करने और पापों का नाश करने के लिये ही जन्म लेते हैं । इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि कृष्ण के रूप में धर्म की शक्ति का जन्म हुआ।

जब आप यह मानेंगे कि धर्म ही परमात्मा है या धर्म का रक्षक परमात्मा है तभी आप अलौकिक काम करने में समर्थ हो सकते हैं । वस्तुतः अपनी उन्नति और अवनति अथवा शांति और अशांति अपने ही हाथ में है ।

इस प्रकार सब बात आपके ही हाथ है । आप अच्छे काम करेंगे तो आपका अकल्याण कदापि नहीं हो सकता ।

बहुत बार लोग अच्छे काम के विषय में यह सोचने लगते हैं कि लोगों की निगाह में मेरे अच्छे काम की कद्र होगी या नहीं ? लोग मेरे काम की पूछ करेंगे या नहीं ? इस प्रकार अच्छे कामों के लिये दूसरों का मुंह देखने लगते हैं । मगर ज्ञानीजनों का कथन है कि अच्छे कामों के लिए दूसरे का मुंह देखने का क्या आवश्यकता है ? परमात्मा को ही पकड़ कर रही दूसरों का मुंह मत ताको । जब तुम सत्कार्य में लगे हो तो दूसरों की तरफ क्यों देखते हो । सत्कार्य करके तुम जो संतोष पाओगे उसे बढ़कर तुम्हारे कार्य की ओर क्या कद्र होगी ? अतएव दूसरों की तरफ से अपनी दृष्टि हटाकर अपनी ही ओर लगाओ और अधर्म से बचे रहकर धर्म

में प्रवृत्त होओ ।

प्रश्न होता है । धर्म क्या है ? और अधर्म क्या है ? इन छोटे प्रश्नों का उत्तर बहुत विशाल है । यहाँ विस्तार में न जाकर इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि–

महाजनो येन गतः स. पन्थाः ।

सर्वसाधारण को यही समझ लेना चाहिये कि जिस मार्ग पर महापुरुष गये हैं उसी मार्ग को पकड़ कर मैं चलूं, यह धर्म है । ऐसा सोचकर धर्म के मार्ग पर चलो । ऐसा कहने पर आपका कदापि अकल्याण नहीं होगा ।

कृष्णजन्म के विषय में जो कुछ कहना है, उसकी यह पीठिका है । कृष्ण का जन्म कब और किस प्रकार हुआ अब इस विषय में कुछ कहना है । यह पहले ही बतला दिया गया है कि इस सम्बन्ध में जो कुछ कहूंगा, जैनदृष्टि से कहुंगा । इसके अनुसार कृष्ण का जन्म मथुरा में हुआ था । कंस बड़ा अभिमानी था । वह सोचता था कि मेरे सामने सारा संसार तुच्छ है जो हूं मैं ही हूं । मुझे धर्म का अनुचर होकर नहीं रहना है । बल्कि धर्म मेरा अनुचर है । मैं जो कुछ कहूं वही धर्म है । मेरे सामने, मेरी इच्छा के विरुद्ध कोई धर्म नहीं चल सकता । इस प्रकार की उद्धतता से भी भावना सिर्फ कंस को ही नहीं, उस समय के अन्याय राजाओं की भी हो रही थी ।

साधारण आदमी की बात अलग है, लेकिन जब राजा–महाराजा आदि समाज में प्रमुख समझे जाने वाले लोग धर्म से पतित हो जाते हैं तब उनकी देखादेखी दूसरे बहुत–से

लोग भी पतित होने लगते हैं और जब राजा महाराजा धर्म पर दृढ़ रहते हैं तब दूसरे भी बहुत–से लोग धर्म पर दृढ़ रहते है। लेकिन उस समय अनेक राजाओं की यह भावना हो रही थी कि हमारा कहना ही धर्म है । कंस ऐस राजाओं में मुख्य था । दूसरी और मगधाधिप जरासंघ भी यही मानता था । दिल्लीश्वर दुर्योधन भी कहता था कि हमारी शक्ति के सिवाय धर्म नाम की कोई वस्तु ही नहीं है । हमारी शक्ति के सामने धर्म और ईश्वर की शक्ति, उसी प्रकार नहीं ठहर सकती; जिस प्रकार सूर्य के सामने तारों का प्रकाश नहीं ठहर सकता। इस तरह दुर्योधन घमंड में चूर था । कालीनाग, जो नाग जाति का या दूसरी हल्की जाति का व्यक्ति था, समझता था कि जब तक हम में जहर भरा है, कोई हमारा क्या बिगाड़ सकता है ? जरासंघ का पुत्र काली कुमार दूसरों को चूसना ही अपना परम धर्म समझता था । 'बलवान् के दो भाग' इस कहावत के अनुसार वह दूसरों का शोषण करना अपना अधिकार मानता था ।

उस समय के राजा–महाराओं की प्रायः यह स्थिति थी। जब राजाओं की मनोदशा ऐसी हो तो जगत् पर कैसा संकट हो सकता है, इस बात की कल्पना करना कठिन नहीं हैं । इन राजाओं को उस समय कोई समझाने वाला नहीं था। यद्यपि समझाने की योग्यता रखने वाले पुरुष उस समय मौजूद थे और वे शास्त्रों का सार निकाल कर उनके सामने रखते भी थे और यह भी बतलाते थे कि कर्त्तव्य एवं धर्म यह है; मगर राजाओं पर उनका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता था । राजा कहते थे – यह चीज हमारे काम की नहीं हैं, किसी

दूसरे को समझाओ । हमारे लिए तो हमारी शक्ति ही धर्म है। इस मनोदशा के कारण सारे भारत में अन्धाधुन्धी मची हुई थी। परिणाम यह हुआ कि जो राजा दुःखी की सहायता करके दुःख मिटाने वाले होने चाहिये थे वहीं गरीबों को हजम करने लगे । इस कारण जगत् में त्राहि–त्राहि मच गई ।

धर्मात्मा को देखकर धर्म तो सीखना चाहिये लेकिन अधर्मी को देख कर अधर्म सीख लेना उचित नहीं है !

मथुरा के राजा कंस ने सोचा कि राजकाल में मेरा बाप उग्रसेन बाधक हो रहा है । इसे किसी प्रकार रास्ते से अलग कर देना चाहिये । यह सोचकर अपना रास्ता साफ करने के लिये उसने अपने पिता को कारागार में बंध कर दिया । उसने विचार किया – मैं राजा हूं, सर्वशक्ति–सम्पन्न हूं मेरे काम में जो बाधक हो उसे कारागार के अतिरिक्त दूसरा कोई स्थान उपयुक्त नहीं हो सकता । इस प्रकार उग्रसेन को कारागार के हवाले नहीं हो सकता । इस प्रकार उग्रसेन को कारागार के हवाले करके आप निर्विघ्नराज्य करने लगा और मनमानी करने लगा ।

अपने पिता को जेल में डालने के उदाहरण इतिहास में भी मिलते हैं । औरंगजेब ने भी अपने पिता को जेलखाने में कैद कर दिया था । उसने ऐसा किया सही, मगर परिणाम क्या निकला ? उसी परिणाम के आधार पर धर्म और अधर्म का पता लगाना चाहिये ।

इसी प्रकार कंस ने अपने पिता उग्रसेन को कारागार के पींजरे में डाल दिया । जगत् में यह बात प्रसिद्ध हो गई

कि कंस ने अपने पिता को कैद कर लिया है । जिसने सुना उसी ने कंस की इस करतूत को अन्यायपूर्ण कहकर उसकी निन्दा की । कंस के एक छोटे भाई का नाम अतिमुक्तक था। उन्हें 'एवन्ता' भी कहते हैं । वह कंस की तरह क्रूर और अन्यायी नहीं थे । वह अतिशय धर्मपरायण और नीतिनिष्ठ थे। अपने पिता को कारागार में कैद हुआ देखकर उन्हें बहुत बुरा मालूम हुआ । मगर वह क्या कर सकते थे सारी सत्ता कंस के हाथ में थी । अतएव उन्होंने विचार किया कि कंस अपने अन्यायपूर्ण कृत्यों से विरत हो जाए तो अच्छा है; अन्यथा इस घर में मेरा रहना ठीक नहीं है । यह सोचकर अतिमुक्तक ने कंस को समझाने का भरसक प्रयत्न किया । खूब अनुनय-विनय करके अन्याय और अधर्म के परिणाम की ओर उसका ध्यान आकर्षित किया, मगर कंस पर उसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा । जैसे बालू से तेल निकालने का प्रयत्न असफल ही रहता है, उसी प्रकार कंस को समझाने का प्रयत्न भी सफल नहीं हुआ । अन्ततः अतिमुक्तक कुमार ने कंस के साथ असहकार करना ही उचित समझा । वह दीक्षा लेकर मुनि हो गये । अतिमुक्तक मुनि उग्र-विहारी होकर शरीर को सुखाते रहते और यह सोचकर अपनी आत्मा को उन्नत करते रहते कि संसार जघन्य स्वार्थसाधना का धाम है ! संसार की भूल-भुलैया अजब है । जिन्होंने जनम दिया, जन्मोत्सव मनाया पाल-पोसकर बड़ा किया, उन्हीं पिता को जेल में डाल देने से बढ़कर और क्या स्वार्थपरायणता हो सकती है ! संसारी प्राणी इतता अधम हो सकता है !

एक बार अतिमुक्तक मुनि भिक्षा के हेतु कंस के घर

आये । कंस की पत्नी जोवयशा ने उन्हें पहचान लिया कि यह मेरे देवर है । कंस की पत्नी भी बड़ी अभिमानिनी थी । वह मुनि से कहने लगी वाह देवरजी वाह ! कल की कीर्ति में तुमने चार चाँद लगा दिये ! घर–घर भीख मांगते फिरते हो और हमें लजाते हो ! राजपुत्र होकर भीख मांगने में तुम्हें लाज नहीं मालूम होती ? तुम्हारे भाई प्रतापशाली राजा और तुम भिखारी ! यह कितनी वुरी बात है ! तुमने तो लाज छोड़ दी है, मगर हमें लज्जित होना पड़ता है !

कंस की पत्नी जीवयशा ने इस प्रकार की जली–कटी बातें सुनाकर मुनि की भर्त्सना की । मुनि ने सोचा–यह वर्त्तमान में भूली हुई है और भविष्य का इसे ज्ञान नहीं है । इसका अभिमान बेहद बढ़ गया है । इसे भविष्य की सूचना दे दी जाये तो सम्भव है कि इसकी बुद्धि ठिकाने आ जाये ! यह सोचकर मुनि ने जीवयशा से कहा देवी, धीमी रहो । इतना अभिमान मत करो । जरा अपने पति का चरित्र तो देखो । तुम्हारे पति अपने पिता को कैद करके राजा बना हुआ है, क्या यह अच्छा है ? वह नीति और धर्म को भूल रहा है, अन्याय और अधर्म में संलग्न है, घोर अत्याचार कर रहा है। यह सब देख कर तुम्हें लज्जा नहीं आती और मैंने जगत् के कल्याण का मार्ग अपनाया है, महापुरुषों के महापथ का अनुसरण किया है, यह देखकर तुम्हें लाज लगती है ! तुम राज्य के गर्व में चूर होकर अपनी बुद्धि और मैंने जगत् के कल्याण का मार्ग अपनाया है, महापुरुषों के महापथ का अनुसरण किया है, यह देखकर तुम्हें लाज लगती है ! तुम राज्य के गर्व में चूर होकर अपनी बुद्धि और हृदय को कुचल

चुकी हो । इसी कारण तुम्हें विपरीत सूझ रहा है । लेकिन याद रखना, यह स्थिति सदा नहीं रहेगी । राजधानी होने के नाते तुम अपना कर्त्तव्य समझो और पति को प्रशस्त पथ पर लाओ । मेरे कार्यों से नहीं वरन् अपने पति के कार्यों से लजित होओ ।

जीवयशा—राजपुत्र होकर भीख मांगना क्या लज्जास्पद बात नहीं है ?

मुनि—क्या राजपुत्र के लिये अपने बाप को कारागार में बन्द कर देना लज्जा की बात नहीं है ? मैं कहता हूं कि अभिमान मत करो । तुम्हारा अभिमान ज्यादा दिन रहने वाला नहीं है । तुमने जिस देवकी को दासी की तरह बना रखा है, उसी देवकी का सातवां पुत्र तेरे पति का वध करेगा और तुझे विधवा बनाएगा ।

इतना कहकर मुनि अपनी धीमी चाल से चल दिये । जीवयशा मुनि की भविष्यवाणी सुनकर मूर्छित हो गई । आखिर तो स्त्री ही ठहरी ! स्त्रियों में इतना बल और साहस कहां कि वे इतनी कठोर बात सुनकर धीरज रख सकें !

उधर उसी समय कंस के दरबार में एक पण्डित आया। कंस ने पण्डित का सम्मान करके पूछा—आप कहां से आ रहे हैं !

पण्डित – मैं विद्याध्ययन करके आ रहा हूं ।

कंस – आपने किस विद्या का अभ्यास किया है ?

पण्डित ने अपनी पढ़ाई का वर्णन करते हुए बतलाया कि मैंने ज्योतिष का भी अध्ययन किया है । ज्योतिष–विद्या के आधार पर मैं भूत, भविष्य और वर्त्तमान की बातें बतला सकता हूं ।

ज्योतिषशास्त्र ईश्वर का नेत्र कहलाता है । ज्योतिषी विद्वान् सात तह में बैठ कर भी जो ग्रहण बतलाते हैं वह सकता हूं ।

कंस ने कहा–अगर आप भूत भविष्य की बात बतला सकते हैं तो यह बतलाइये कि मेरी मृत्यु किस प्रकार होगी ? किसके हाथ से में मारा जाऊंगा ? या स्माभाविक मौत से मरूंगा ?

राजा का प्रश्न सुनकर पण्डित असमंजस में पड़ गया। लेकिन उसने सोचा–मुझे अपनी विद्या का अपमान नहीं होने देना चाहिये और गणित से जो बात निर्णीत हो राजा से स्पष्ट कह देना चाहिये ।

इस प्रकार निर्णय करके ज्योतिषी ने कंस से कहा–संसार की सभी वस्तुएं अनित्य हैं । सब में सदैव परिवर्तन होता रहता है ।

परिवर्तिति संसारे मृतः को वा न जायते ।

ज़न्म होना ही मृत्यु का अटल प्रमाण है । जिसने शरीर धारण किया है, वह एक न एक दिन अवश्य ही शरीर का त्याग करेगा । अनादि काल से चले आने वाले संसार में कोई

भी प्राणी सदा जीवित नहीं रहा और न रहने वाला है । बड़े-बड़े सम्राट और चक्रवर्ती आये और चले गये । यहां किसी का प्रताप स्थायी नहीं रहा । काल की चक्की में सभी का अभिमान पिस कर चूर-चूर हो जाता है । वास्तव में संसार में कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जिस पर अभिमान किया जा सके ! अतएव राजन् मेरी धृष्टता के लिये क्षमा कीजिये। आप अभिमान का त्याग करें और जितना सम्भव हो उतना सुकृत कर लें ।

कंस-स्पष्ट कहिये, मुझे मारने वाला कोई है या नहीं!

पण्डित-हां आपकी बहिन देवकी का सातवां पुत्र आपका वध करेगा । आप उसको मारने के लिये जितने भी प्रयत्न करेंगे, वह सब निष्फल सिद्ध होंगे । यही नहीं बल्कि वे उसके लिये अनुकूल होंगे । वह पुरुष साधुओं की रक्षा और दुष्टों का विनाश करने के लिए ही जन्म लेगा ।

पण्डित का कथन सुनकर भीतर ही भीतर कंस कांप उठा । मगर उसने अपनी हैकड़ी दिखाते हुये कहा-ऐसा ! अच्छा हुआ कि मुझे अपने शत्रु का पहले पता चल गया ! मैं सम्राट हूं । सम्राटों को अपना अनिष्ट पहले मालूम नहीं होता। यदि मालूम हो जाए तो बहुत-सा प्रबन्ध किया जा सकता है । पण्डित तुमने भविष्य की बात का पता देकर बहुत अच्छा किया है, लेकिन मुझे तुम्हारे कथन पर विश्वास नहीं है । अतएव अभी मैं तुम्हें कैद में रखूंगा । अगर तुम्हारा भविष्यकथन सत्य हुआ तब तो तुम मुक्त हो ही जाओगे अन्यथा कारागार में ही रह कर अपनी मृत्यु की प्रतीक्षा

उसका मनोरथ पूर्ण न हो सका । वस्तुतः अधर्म का मनोरथ पूरा नहीं हो सकता ।

देवकी कैद में पड़ी हुई भी यही सोचती थी कि मुझे धर्म का पालन करना चाहिये और सन्तान उत्पन्न होने पर कंस को सौंप देने का पति ने जो वचन दिया है उसका भी पालन करना चाहिये । इस विचार के कारण देवकी ने अपने अनमोल पुत्रों का जन्म दे–देकर वसुदेव के हाथों में सौंप दिया कि वे अपने वचन का पालन करने के लिए उन्हे कंस को दे दें । लेकिन ऐसे धर्मात्मा के पुत्र किस प्रकार मारे जा सकते हैं ? इस संबंध में अन्तकृद्दशंगसूत्र में कहा हैं –

सुलसा नाम की एक सेठानी ने देव का स्मरण किया सुलसा के बच्चे मर जाते थे । देव ने सुलसा से कहा–मृत बालक को पुनः जीवित कर देने की शक्ति तो मुझमें नहीं हैं अलबत्ता तुम्हारे मृत बालक के बदले जीवित बालक लाकर तुम्हें दे दूंगा । सुलसा ने यह स्वीकार कर लिया ।

देव, देवकी के बालकों को सुलसा के घर पहुंचा देता था और सुलसा के मृत बालकों को देवकी के पास रख देता था । पुत्र को जन्म देकर देवकी सोचती–जो बालक अभी मार दिया जाने वाला था, उसका मुख देखने से क्या लाभ है? सिवाय अधिक वेदना के और क्या फल होगा ? यह सोचकर वह आंख बंद रखकर अपने पुत्र को वसुदेव के हाथों में सौंप देती थी । 'नाथ ! यह पुत्र लीजिये यह शब्द कहते समय देवकी के हृदय की क्या हालत होती होगी ? उस असीम वेदना को मातृहृदय ही कदाचित् समझ सकता है ।

देवकी अपनी प्राणप्रिय सन्तान को वसुदेव के हाथों में सौंप देती थी वह कहती—'नाथ, यह धरोहर आपकी है । इसका उसी तरह उपयोग कीजिए जिस तरह धर्म का पालन हो ।' सन्तान के विषय में माता का हृदय कैसा होता है, यह सभी जानते हैं । उस सन्तान को मरने के लिए दे देना कितनी कठिन बात है ! लेकिन देवकी सोचती थी कि पति का धर्म जाना उचित नहीं है । कुछ भी हो पति ने कंस को संतान सौंप देने का वचन दिया है और उसका पालन होना ही चाहिये ।

देवकी की तरह वसुदेव भी धर्म पालने वाले थे । इसलिए वे भी पुत्र का मुंह देखे बिना ही सन्तान को ले जाकर कंस के सुपुर्द कर देते थे । कंस उस मरे हुए बालक को देख कर कहता—देखो मेरा प्रताप ! मेरे प्रचण्ड प्रताप के शत्रु जन्मते ही मौत के शिकार बन जाते हैं । फिर भी शत्रु से वैर तो लेना ही चाहिये । इस प्रकार कहकर वह उन मृतक बालकों को भी पैर पकड़ कर पछाड़ देता ।

क्या कंस का यह कार्य उचित था ? जिन्हें वह पछाड़ देता था वे बालक तो मरे हुए थे । कदाचित् जीवत होते तो भी उनका क्या अपराध था ? किन्तु उसे ऐसी बातों का भान नहीं था । आज भी ऐसे लोग संसार में मौजूद है जो बाप से वैर न भंजा सकने के कारण बेटे से वैर का बदला लेते हैं ।

देवकी के छह पुत्रों का यही हाल हुआ । वास्तव में वे छहों सकुशल सुलसा सेठानी के घर पहुंच गये और सुलसा के छह मृतक पुत्रों को मार कर कंस अत्यन्त संतुष्ट हु

सातवीं बार कृष्ण का जन्म हुआ । उस समय देवलीला का प्रादुर्भाव हुआ । कंस का कठोर प्रबन्ध और समस्त प्रयत्न निष्फल हुआ । कृष्ण को जन्म देकर देवकी ने वासुदेव से कहा–आप इसकी रक्षा का प्रयत्न कीजिये । इसकी रक्षा नन्द राजा की रानी यशोदा ही कर सकती है । उसके साथ मेरी बातचीत भी हो चुकी है । अतएव आप इसे गोकुल ले जाइये।

नन्द गोपों के स्वामी थे । राजा तो वे अब कहलाते हैं परन्तु वास्तव में वे उन ग्वालों में से एक थे जिन्हें आज लोग बुद्धिहीन कहते हैं । फिर भी कृष्ण उनके घर गये थे । प्रश्न किया जा सकता है कि कृष्ण की रक्षा करने वाला कोई राजा–महाराजा नहीं था कि कृष्ण को ग्वालके के घर जाना पंड़ा ? लेकिन वे ग्वाल के घर जाने के कारण ही दीनानाथ कहलाए । दोनों के प्रति सद्भाव रखने वाला ही दीनानाथ कहलाता है । इसके अतिरिक्त जो सच्चा दीन है परमात्मा भी उसके अधीन रहता है । इसके विपरीत जो दीन न हो कर अभिमान करता हैं उससे परमात्मा दूर रहता है ।

कृष्ण को लेकर वसुदेव रवाना हुए । रात्रि का समय था । वर्षा मानों कह रही थी कि मैं आज हीं बरसूंगी । भाद्रपद महीने के कृष्णपक्ष की अष्टमी को अन्धकारमयी रात्रि और सघन मेघों से आच्छादित आकाश ! ऐसे समय में पृथ्वी पर पैर रखकर कौन चल सकता था ? फिर राजा या राज घराने के सुकुमार व्यक्तियों के लिये चलना और भी कठिन था। किन्तु पुत्रवात्सल्य एवं भवितव्य की प्रेरणा से प्रेरित होकर वसुदेव चल दिये !

देवकी ने रूंधे कंठ से कहा—नाथ, जाइये । हम लोग तो निमित्तमात्र हैं । इस महापुरुष की रक्षा तो इसको शक्ति ही करेगी हम क्या रक्षा कर सकते हैं ? लेकिन अपने कर्त्तव्य का पालन करना प्रत्येक के लिए आवश्यक है ।

कई बार लोग विषम परिस्थिति देख कर पुरुषार्थहीन हो जाते हैं और निराश होकर प्रयत्न करना छोड़ देते हैं । थोड़ी कठिनाई के सामने सिर झुका देने वाले लोग कभी महान् कार्यों में सफलता नहीं पाते । महत्त्वपूर्ण कार्यों में विघ्नों का आना स्वाभाविक है । विघ्नों के आने पर जो पुरुष अधिक दृढ़ता धारण करता है और विघ्नों को चुनौति देकर साहस के साथ अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होता ही चला जाता है, उसे सफलता अवश्य मिलती है । वीर पुरुषों को पुरुषार्थ करते जाना चाहिये । कहावत है—हिम्मते मरदां मदद दे खुदा ।

वसुदेव के सामने कितने विघ्न थे ? वे हिम्मत हार सकते थे । मगर उन्होंने दृढ़ता और धैर्य से काम लिया और सोचा कि मुझे पुरुषार्थ करना ही चाहिये । यह सोचकर ऐसे विकराल समय में भी वे कृष्ण को लेकर चले । वासुदेव का वृत्तांत सुनकर आपको भी पुरुषार्थ करने और धीरज न गंवाने की शिक्षा लेनी चाहिये ।

मूसलाधार वर्षा हो रही थी । उसी वर्षा में कृष्ण को लेकर चले । देवों ने बालक कृष्ण पर छत्र किया । जेल के फाटक खुले हुए थे और पहरेदार निद्रा में बेहोश पड़े थे । देवकी का सातवां गर्भ जानकर कंस ने बहुत कड़ा

किया था उसने नगर के द्वारों पर भी बड़े–बड़े ताले डाल दिये थे । नगर के द्वार बन्द थे । फिर भी वासुदेव ने सोचा–बीच से ही लौट जाना उचित नहीं है । द्वार तक पहुंचना चाहिये । जब जेल के फाटक खुल गये तो नगर द्वार के फाटक भी शायद खुल जाएं ।' यह सोचकर वासुदेव फाटक के पास पहुंचे । वहां पहुंचकर वे कहने लगे–प्रभो ! मैंने यथाशक्ति अपना कर्त्तव्य पालन करने में कुछ भी कसर नहीं रहने दी । अब मेरी शक्ति जवाब दे रही है ।

हरि अंगूठा अड़िया ।
तांला तो सब झड़ पड़िया ।।

फाटक से कृष्ण का अंगूठा लगते ही सब ताले गिर पड़े और किवाड़ खुल गये । यह अद्‌भुत घटना देखकर वसुदेव सोचने लगे–अच्छा हुआ कि मैं बीच से ही नहीं लौट पड़ा । यहां तक न आता तो मेरी भयंकर भूल होती । वास्तव में अंत तक पुरुषार्थ करते रहना चाहिये । कायर बनकर पुरुषार्थ त्याग देना उचित नहीं है ।

राजा उग्रसेन उस समय जाग रहे थे । किवाड़ों की आवाज सुनकर उन्होंने सोचा यह कौन है ? मगर उस समय अधिक बातचीत करने का अवकाश ही कहां था ? अतएव –

उग्रसेन कहे–कोई ? तुम बन्धन काटे सोई ।
ये सुने वचन सुमदाई,
कहां वेग सिधाया भाई ।

उग्रसेन ने पूछा–'कौन है ? इस प्रश्न के उत्तर में

वसुदेव ने कहा 'अरे कोई नहीं, तुम्हारे बन्धन काटने वाला ही है ।' यह सुनकर उग्रसेन प्रसन्न हुए । उन्होंने कहा–मेरे बन्धन काटने वाले का जन्म हो गया है ! अच्छा जल्दी ले जाओ ।

वसुदेव आगे चले । यमुना के पास पहुंचे तो देखा कि यमुना में पूर आ रहा है, ऐसे समय में नवजात बालक को लेकर यमुना को पार करना कठिन है, फिर भी मुझे अपना काम करना चाहिये । चाहे बह जाऊं फिर भी जहां तक जा सकता हूं वहां तक तो जाना ही चाहिए । 'कार्य वा साधयामि शरीरं वा पातयामि ।'

इस प्रकार हिम्मत करके वसुदेव जमुना में धँसे । घुटनों तक पानी आ गया । इतने में ही कृष्ण का अंगूठा पानी में लगा और जमना का पूर उतर गया । वसुदेव सकुशल अपने अभीष्ट स्थान पर जा पहुंचे । वहां उन्होंने कृष्ण को यशोदा के पास रख दिया और लौट आये । इतनी कारवाई तक कंस के पक्ष का कोई भी आदमी नहीं जागा । वसुदेव जब सकुशल देवकी के पास लौटे तो देवकी के हर्ष का पार न रहा । उसने अत्यन्त उत्कंठा के साथ पूछा । सब काम हो गया ?

वसुदेव–उसी की शक्ति से कार्य सिद्ध हुआ है ।

देवकी – और यह क्या लाये हो ?

वसुदेव यह कन्या है ।

देवकी पुत्र को रक्षा के लिये क्या इसकी हत्या करवानी होगी ?

वसुदेव–इसकी रक्षा करने वाला भी दूसरा ही है ।

यह सब कुछ हो जाने के पश्चात् पहरेदारों को नींद खुली । वे कन्या को लेकर कंस के पास गये । कंस लड़की को देखकर अट्टहास करके बोला–क्या यही छोकरी मेरा वध करेगी ? वाह रे ज्योतिषशास्त्र !'

कंस ने कन्या का वध नहीं किया । सोचा–यह कन्या मेरा कुछ बिगाड़ नहीं सकती । इसे मारना वृथा है ।

आखिर कंस को किस प्रकार मालूम हो गया कि उसे मारने वाला अर्थात् देवकी का पुत्र नन्द के घर पहुंच गया है। यह जानकर वह पहरेदारों पर अत्यन्त कुपित हुआ । वह कहने लगा–तुम लोग असावधान कैसे रहे ? तुम्हारे पहरे में से शत्रु किस प्रकार चला गया ?

पहरेदारों ने कहा–हम क्या कर सकते हैं ? भवितव्य के आगे किसकी चलती है ? जो आपको मारने के लिये ही जनमा है वह कैसे मारा जा सकता है ?

कंस को ये सब बातें देख सुनकर चेतना चाहिये था पर वह अभिमान में डूबा था उसने सोचा मेरा शत्रु उत्पन्न हो गया है तो क्या हुआ ! है तो वह नजदीक ही और अभी बालक है । उसका काम तमाम करना कौन बड़ा काम है । मेरे पास बहुत शक्ति है । मैं उस दुष्ट बालक को समाप्त

किये बिना नहीं रहूंगा ।

आखिर कंस ने कृष्ण को मारने के प्रयत्न किये । किन्तु सभी प्रयत्न कृष्ण के अनुकूल और कंस के प्रतिकूल सिद्ध हुए । कृष्ण धर्मभावना से जन्मे थे, इसलिये सभी प्रयत्न निष्फल हुए ।

कृष्ण कुछ बड़े हुए । वह बंशी लेकर ग्वालों के साथ गायें चराने जाते । उन्होंने गायें चराकर मानो यह उपदेश दिया है कि अगर गायों की रक्षा करोगे तो तुम्हारी रक्षा होगी, नहीं तो तुम्हारी भी रक्षा नहीं होगी ।

कृष्ण ने तो ऐसा उपदेश दिया है मगर आज कितने लोग ऐसे मिलेंगे, जो अपने घर में गायें रखते हों ? अगर लोग अपने-अपने घरों में गायें रक्खें और मोल का दूध न खावें तो बहुत कुछ उन्नति हो सकती है । कृष्ण ने गायें चराकर गोरक्षा का महत्व प्रकट किया था । इसी से उनका नाम 'गोपाल' पड़ा । उन्होंने अपना यह छोटा और सादा नाम रख कर लोगों को सावधान किया कि यदि तुम बड़े-बड़े कामों के लिये दौड़ोगे और छोटे कामों की उपेक्षा करोगे-गोरक्षा नहीं करोगे-तो तुम्हारी उन्नति नहीं हो सकती । गो की रक्षा करना अपनी शक्ति की रक्षा करना है । मेरे न रहने पर भी अगर तुम लोग मेरे आदर्श को अपना कर रहोगे तो तुम्हारी रक्षा होगी अन्यथा नहीं ।

गो रक्षा का महत्व कुछ कम नहीं है । आज के बड़े-बड़े विचारक विद्वान भी अनुभव करते हैं कि ऋद्धि-सिद्धि

देने वाली गो माता ही है । जो चाहें, गौ से ऋद्धि–सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं । कृष्णजी इस तथ्य को भली–भांति जानते थे । यही कारण है कि उन्होंने गायें चरा कर संसार को गोरक्षा की महिमा दिखाई ।

गायें चराते समय कृष्ण कितनी सादगी के साथ रहे होंगे ? आज तो लोगों को सादगी पसंद ही नहीं है । ऐसी दशा में गायों का पालन भी कैसे कर सकते हैं ? मगर यह निश्चित है कि जो परोपकार के साथ अपनी रक्षा की भावना रखता है उसे गोरक्षा करनी होगी । आज अधिकांश लोग सीधा घी–दूध खाने में आराम मान रहे हैं । जो घर में गाय भैंस या बकरी रखेगा वह उसके कष्टों को नहीं देख सकेगा। जो सीधा घी–दूध खरीदकर खाता–पीता है, उसका ध्यान उनके कष्टों की ओर आकृष्ट नहीं होता । परिणाम यह होता है कि दुधारू जानवरों की स्थिति दिनों–दिन खराब होती जाती है और घी–दूध भी दुर्लभ होता जाता है । इस स्थिति से बचने के लिए कृष्ण के जीवन का अनुसरण करने के अतिरिक्त कोई और उपाय नहीं है ।

कृष्ण ने कंबली ओढ़ कर और हाथ में बंशी लेकर भारत की शक्ति की रक्षा की थी । यह बात समझने वाले ही समझ सकते हैं । साधारण लोगों का इस और लक्ष्य नहीं जाता ।

कृष्ण को मारने के सभी उपाय जब निष्फल हुए तो कंस ने सोचा–कृष्ण को किसी बहाने अपने सथान पर मथुरा में बुलाकर मार डालना चाहिये । नन्द मेरे अधीन है और उसे

अपने लड़के को भेजना ही पड़ेगा । इस तरह निर्णय करके उसने कृष्ण को बुलौआ भेजा । नन्द को भली–भांति मालूम था कि कंस किलना क्रूर है । वे कृष्ण को स्वयं नहीं भेजना चाहते थे और गोपियों ने भी उन्हें रोकने की बहुत कोशिश की । मगर कृष्ण नहीं माने । वह कंस का निमन्त्रणपाकर मथुरा पहुंचे । मार्ग में भी उन्होंने बड़े–बड़े काम किये । कृष्ण को देखकर कंस कहने लगा बस, इसी लड़के का नाश करना है ! यही मेरा वध करने वाला कहा जाता है । ऐसा कहता हुआ वह कृष्ण को मारने के लिए दौड़ा । लोग घबरा उठे और हाहाकार करने लगे लेकिन कृष्ण ने उसे पटककर यमधाम पहुंचा दिया ।

कृष्ण का यह अद्‌भुत बल देखकर सज्जन प्रसन्न हुए और दुर्जन भयभीत हुए । सज्जनों ने कृष्ण का सम्मान किया और उनकी प्रशंसा की । उन्होंने कहा–अच्छा हुआ जो कंस को आपने मार डाला । अब आप ही मथुरा के राजा बन जाइये । मगर कृष्ण ने उत्तर दिया मैं राजा नहीं बन सकता। राजा बनने के लिये उग्रसेन को बुलाओ ।

कृष्ण चाहते तो स्वयं राजा बन सकते थे । उग्रसेन ने बहुत कहा कि यह राज्य आपको ही स्वीकार करना चाहिये । आपके पुरुषार्थ से ही इसकी प्राप्ति हुई है, अतः आप ही इसके अधिकारी है । मगर निस्पृह कृष्ण ने यही उत्तर दिया यह राज्य आपके ही अधिकार का है और आपको ही इसे स्वीकार करना चाहिये ।

आखिरं उग्रसेन राजा हुए । जीवयश [illegible] कालपीली होकर

कुछ बोलने लगी, लेकिन उग्रसेन की डाट–फटकार से क्रुद्ध होकर वह अपने बाप जरासंघ के घर चली गई । जरासंघ ने कंसवध का वृत्तांत सुना तो बहुत कुपित हुआ । यद्यपि उसे समझना चाहिये था कि जिन्होंने कंस जैसे प्रचण्ड राजा को अनायास ही मार डाला हैं, उसका सामना करना भयानक है; लेकिन वह नहीं समझा और उसने कृष्ण पर चढ़ाई कर दी। फलस्वरूप उसे भी प्राणों से हाथ धोना पड़ा । शिशुपाल भी बड़ा अहंकारी था । वह समझता था कि हम ही रत्नभोक्ता है और हमारे सामने दूसरा कोई कुछ नहीं है । उसका भी विनाश हुआ । दुर्योधन भी द्रौपदी की आग में भस्म हुआ । कालीकुंवर भी काल का ग्रास बना । काली–नाग भी नाथा गया । इस प्रकार अधर्म का प्रतिनिधित्व करने वाली तमाम प्रधान शक्तियों का अन्त हो गया । कृष्ण ने सब राजाओं का संगठन करके भारत को एक राष्ट्र बनाने का प्रशस्त प्रयत्न किया । जब राष्ट्र के टुकड़े–टुकड़े हो जाते हैं तो शक्ति के भी टुकड़े–टुकड़े हो जाते हैं और फल स्वरूप निर्बलता बढ़ जाती है । ऐसा सोचकर कृष्ण ने सब छोटे–छोटे राष्ट्रों का संगठन कर डाला ।

राजनीतिज्ञ लोग अपना स्वार्थ साधने के लिए और अपने विराधियों को विनष्ट करने के लिए भी गुट बना लेते हैं, तो धर्म–कार्य के लिए संगठन की आवश्यकता क्यों न होगी ? मैंने अजमेर साधु–सम्मेलन में कहा था कि सम्प्रदाएं अलग–अलग रह कर धर्म और समाज का हित नहीं कर सकतीं । इसलिए अभियान छोड़कर सब मिल जाओ । ऐसा करने पर ही धर्म की उन्नति हो सकती है ।

8 : आदिनाथ

श्री आदीश्वर स्वामी हो,
प्रणमूं सिर नामी तुम भणी ।

यह भगवान् ऋषभदेव की प्रार्थना है । आज अनायास ही यह सुयोग आ गया है कि आज ही पर्युषण पर्व का प्रारंभ हुआ है और आज ही भगवान् ऋषभदेव की प्रार्थना बोलने का क्रम आया है ।

भारत के शास्त्रों और धर्मों में भगवान् ऋषभदेव का स्थान बहुत ऊंचा है । क्या जैन और क्या हिन्दू, सभी भगवान् ऋषभदेव को आदर की दृष्टिट से देखते हैं । अगर कदाचित् समस्त हिन्दू जाति एक ही झण्डे के नीचे आना चाहे और यह निर्णय होने लगे कि किस देव को मानें तो निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है कि भगवान् ऋषभदेव को ही अपना आराध्यदेव मानने के पक्ष में निर्णय होगा ।

भगवान् ऋषभदेव धर्म के आदि संस्थापक और जगत् को शाँति देने वाले सर्वप्रथम तीर्थकर हुए हैं । इस आर्य देश में भगवान् ऋषभदेव का स्थान सबसे यद्यपि भगवान् ऋषभदेव का स्थान सर्वोच्च होने कारण है, लेकिन एक कारण यह भी है कि ऋषभदेव को धर्म को आदि मानते हैं ।

का कथन है कि जब अठारह कोटा–कोटि सागर से धर्म का विरह हो रहा था और यह पृथ्वी जब धर्म रहित हो रही थी, उस समय भगवान् ऋषभदेव ने धर्म का उद्धार किया था । यों तो धर्म अनादि है परन्तु जब वह अप्रसिद्धि हो जाता है तब कोई न कोई महापुरुष धर्म को प्रसिद्धि में लाते हैं और जो महापुरुष ऐसा करते हैं वे तीर्थकर कहलाते हैं । भगवान् ऋषभदेव इस अवसर्पिणी युग के ऐसे प्रथम तीर्थकर थे ।

संक्षेप में यहां भगवान् ऋषभदेव का चरित समझना उपयोगी होगा । जिस समय यह आर्य क्षेत्र धर्म के विरह के कारण धर्मशून्य हो रहा था, कर्म–भूमि न रह कर भोग–भूमि हो गया था, यहां युगलिकों का निवास था और कल्पवृक्षों से उन्हें आवश्यक सामग्री मिलती थी, उस समय भगवान् ऋषभदेव ने जगत् की रक्षा की थी । मगर भगवान् के समय में ही भोगभूमि का युग समाप्त होने लगा । अतः कल्पवृक्षों से जो कुछ मिलता था, उसका मिलना बंद हो गया । उस समय की जनता जीवन–निर्वाह का दूसरा कोई उपाय नहीं जानती थी। अतएव लोग बड़े संकट में पड़ गये थे । जिनसे मिलना हो उससे मिलना बन्द हो जाए और स्वयं कुछ करना न आता हो तो ऐसे समय में स्थिति गम्भीर हो जाना स्वाभाविक है । तदनुसार उस युग के लोग गम्भीर संकट में पड़ गये । क्या करें और कहां जाएं, किसी को सूझता नहीं था । सब मानो भूल–भूलैया में पड़ गये थे ।

आखिर घबराकर लोग तत्कालीन कलगुरु राजा नाभि के पास पहुंचे । नाभि वास्तव में राजा नहीं थे । उस समय

8 : आदिनाथ

श्री आदीश्वर स्वामी हो,
प्रणमूं सिर नामी तुम भणी ।

यह भगवान् ऋषभदेव की प्रार्थना है । आज अनायास ही यह सुयोग आ गया है कि आज ही पर्युषण पर्व का प्रारंभ हुआ है और आज ही भगवान् ऋषभदेव की प्रार्थना बोलने का क्रम आया है ।

भारत के शास्त्रों और धर्मों में भगवान् ऋषभदेव का स्थान बहुत ऊंचा है । क्या जैन और क्या हिन्दू, सभी भगवान् ऋषभदेव को आदर की दृष्टिट से देखते हैं । अगर कदाचित् समस्त हिन्दू जाति एक ही झण्डे के नीचे आना चाहे और यह निर्णय होने लगे कि किस देव को मानें तो निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है कि भगवान् ऋषभदेव को ही अपना आराध्यदेव मानने के पक्ष में निर्णय होगा ।

भगवान् ऋषभदेव धर्म के आदि संस्थापक और जगत् को शाँति देने वाले सर्वप्रथम तीर्थकर हुए हैं । इस कारण आर्य देश में भगवान् ऋषभदेव का स्थान सबसे ऊंचा है । यद्यपि भगवान् ऋषभदेव का स्थान सर्वोच्च होने के और भी कारण है, लेकिन एक कारण यह भी है कि जैनशास्त्र भगवान् ऋषभदेव को धर्म को आदि करने वाले मानते हैं । जैनशास्त्रों

का कथन है कि जब अठारह कोटा–कोटि सागर से धर्म का विरह हो रहा था और यह पृथ्वी जब धर्म रहित हो रही थी, उस समय भगवान् ऋषभदेव ने धर्म का उद्धार किया था । यों तो धर्म अनादि है परन्तु जब वह अप्रसिद्धि हो जाता है तब कोई न कोई महापुरुष धर्म को प्रसिद्धि में लाते हैं और जो महापुरुष ऐसा करते हैं वे तीर्थकर कहलाते हैं । भगवान् ऋषभदेव इस अवसर्पिणी युग के ऐसे प्रथम तीर्थकर थे ।

संक्षेप में यहां भगवान् ऋषभदेव का चरित समझना उपयोगी होगा । जिस समय यह आर्य क्षेत्र धर्म के विरह के कारण धर्मशून्य हो रहा था, कर्म–भूमि न रह कर भोग–भूमि हो गया था, यहां युगलिकों का निवास था और कल्पवृक्षों से उन्हें आवश्यक सामग्री मिलती थी, उस समय भगवान् ऋषभदेव ने जगत् की रक्षा की थी । मगर भगवान् के समय में ही भोगभूमि का युग समाप्त होने लगा । अतः कल्पवृक्षों से जो कुछ मिलता था, उसका मिलना बंद हो गया । उस समय की जनता जीवन–निर्वाह का दूसरा कोई उपाय नहीं जानती थी। अतएव लोग बड़े संकट में पड़ गये थे । जिनसे मिलना हो उससे मिलना बन्द हो जाए और स्वयं कुछ करना न आता हो तो ऐसे समय में स्थिति गम्भीर हो जाना स्वाभाविक है । तदनुसार उस युग के लोग गम्भीर संकट में पड़ गये । क्या करें और कहां जाएं, किसी को सूझता नहीं था । सब मानो भूल–भूलैया में पड़ गये थे ।

आखिर घबराकर लोग तत्कालीन कलगुरु राजा नाभि के पास पहुंचे । नाभि वास्तव में राजा नहीं थे । उस समय

राज्यव्यवस्था का जन्म ही नहीं हुआ था । फिर भी वे उस समय की प्रजा के महान् पुरुष थे । वही लोगों के झगड़ों का निपटारा किया करते थे । समस्त प्रजा उनकी आज्ञा शिरोधार्य मानती थी । अतएव इस संकट के समय लोग उन्हीं के पास पहुंचे । उन्होंने पुकार की–इस समय हम सब अपूर्व और भयंकर संकटों में पड़े हैं । आप ही इस संकट से बचने का मार्ग दिखाइये और वस्तुओं की बात तो दूर रही, भोजन और वस्त्र भी हमें पूरा नहीं मिल पाता । जान पड़ता है कल्पवृक्ष कंजूस हो गये हैं । वे बहुत थोड़ी वस्तु देते हैं । लेने वाले बहुत हैं । ऐसी दशा में सभी को कष्ट होता है और फिर आपस में झगड़ा भी होता है । कृपा कर किसी भी उपाय से हमारा कष्ट दूर कीजिये ।

ग्रन्थों में कहा गया है कि लोगों की यह पुकार सुनकर नाभि राजा भी विचार में पड़ गये कि इस समय मैं इन्हें क्या मार्ग बतलाऊँ ? अन्त में इन्होंने लोगों को ऋषभदेव के पास जाने का परामर्श दिया । उन्होंने कहा–वह तुम्हारे कष्ट को मिटाने का कोई उपाय सुझा सकेंगे ।

सब लोग ऋषभदेव के पास पहुंचे । उन्होंने फिर अपनी कष्ट–कथा दोहराई ! लोगों का कथन सुनकर भगवान् ने उत्तर दिया–'पिताजी की आज्ञा के बिना मैं कुछ नहीं कह सकता ।'

लोगों ने कहा ! पिताजी आपके पास भेजते हैं और आप पिताजी के पास भेज रहे हैं । ऐसी दशा में हम लोग कहां जाएं ? क्या करें ? या प्राण दे दें ?

भगवाद्–क्या पिताजी ने तुम्हें मेरे पास आने के लिए कहा है ?

लोग–जी हां । हम पिता को अपना राजा और नियामक मानते हैं । ऐसी दशा में हम उनके पास कैसे न जाते ? हम लोग पहले उन्हीं के पास गये थे । उन्होंने आपके पास जाने के लिए कहा । अतः आपके पास आये हैं ।

आप लोग ऋषभदेव को भगवान् और अपना नियामक मानते हैं । लेकिन जिस मर्यादा का पालन भगवान् ने किया उस मर्यादा का पालन क्या आपको नहीं करना चाहिए ? व्यवहारिक कार्य में भगवान् ने भी अपने पिता को अगे रखा, तो क्या आपके लिए यह उचित नहीं है कि आप भी व्यावहारिक कार्यो में अपने पिता को आगे रक्खें । आपके लिए यह शिक्षा दी गई है –

मातृदेवो भव, पितृदेवो भव ।

पिता ने आपको जन्म दिया है और पिता आपका नियामक है इसलिए व्यावहारिक कार्यो में पिता को आगे रखना ही उचित है; फिर आप में कैसी भी शक्ति या बुद्धि क्यों न हो ?

मगर आजकल उल्टी हवा बह रही है । आज के बहुतेरे नवयुवक अपनी युवावस्था के जोश में आकर पिता की अवज्ञा करने से भी नहीं चूकते । वे कहने लगते हैं – 'तुम क्या जानो ! तुम पुराने ढच्चर हो । हम पढ़ेलिखे हैं ।' पुत्र का पिता को इस प्रकार कहना कितना अनुचित है !

पिता ने जन्म देकर स्वार्थ त्याग कर तुम्हारी रक्षा की है, पालन–पोषण किया है । तुम्हारे लिये उनके अन्तःकरण में सदैव, शुभ कामना रहती है । सभी ग्रन्थ इस बात का समर्थन करते हैं । सभी को वह बात स्वीकार है कि माता पिता की अवज्ञा नहीं करना चाहिए ।

दूसरी और पिता को भी यह विचार रखना चाहिये कि जो काम हम स्वयं नहीं कर सकते और पुत्र कर सकता है उस काम में सिरपच्ची करता योग्य नहीं है । वह काम पुत्र को ही सौंप देना उचित हे । ऐसा न करने से कार्य की हानि होती है । कभी–कभी पिता अपने पुत्र को एकदम बुद्धिहीन या सुकुमार समझ कर उससे कोई काम नहीं लेते । ऐसा करना भी योग्य नहीं । काम लेने से ही पुत्र को काम करने का ढ़ंग आता है । उससे काम नहीं लिया जाएगा तो उसमें कार्यकुशलता किस प्रकार उत्पन्न होगी ?

नाभि राजा ने जनता का दुःख मिटाने का कार्य भगवान् ऋषभदेव को सौंप दिया । इस प्रकार पुत्र का कर्त्तव्य पुत्र को समझना चाहिए और पिता का कर्त्तव्य पिता को समझाना चाहिए। दोनों अपने–अपने कर्त्तव्य को समझकर उसका पालन करें । लेकिन दोनों में से अगर कोई भी एक अपने कर्त्तव्य से च्युत होता हो तो उसका अनुकरण दूसरे को नहीं करना चाहिये । अनुकरण गुण का होना चाहिये, दोष का नहीं ।

जिस प्रकार कल्पवृक्ष सब को फल देता है, उसी प्रकार भगवान् ऋषभदेव का चरित सबको शिक्षा देता है ।

भगवान् ने आये हुए लोगों से कहा – जब पिता ने तुम लोगों से कहा है तो तुम्हारा दुःख मुझे मिटाना ही चाहिए । इस विषय में मेरा यह कहना है अब भोग भूमि नहीं रही । कर्मभूमि हो गई है । अब परावलम्बी न रहकर स्वावलम्बी बनना होगा और स्वावलम्बी बनने के लिए कर्म करना होगा।

भगवान् इतना कहकर ही नहीं रह गए । उन्होंने सोचा कि कोई भी कला शब्दों द्वारा नहीं सिखाई जा सकती है न सीखी जा सकती है । कला को सीखने और सीखाने के लिये प्रयोग की आवश्यकता होती है । अतएव जीवन–निर्वाह के लिए जिन कलाओं का शिक्षण लोगों को देना है, उन्हें स्वयं करके दिखाना उचित होगा । ऐसा सोचकर भगवान् पहले कृषक बने ।

आज बहुत से लोग कृषि को हल्का धंधा मानते हैं और कृषकों को भी तुच्छ समझते हैं । उन्हें अपनी श्रेणी से भिन्न हल्की श्रेणी के मानते हैं । लेकिन सबसे पहले तो भगवान् ऋषभ ही कृषक बने थे । क्या आप उन्हे हल्की श्रेणी का कह सकते हैं ? कौन विवेकशील ऐसा कहीं कहेगा कि भगवान् को लोगों पर अपूर्ण करुणा थी । जो लोग कृषकों को हल्का कहते हैं क्या वे उनके द्वारा पैदा किये हुए अन्न को खाना छोड़ सकते हैं ? कृषकों को हल्का कहना या मानना वैसा ही अज्ञान है, जैसा जिस पेड़ की छाया में बैठे हो उसी को काटना । यह कितना तुच्छ कार्य है ! कितनी कृतघ्नता है!

सब लोगों का जीवन कृषि के सहारे ही टिका हुआ है। इसलिये सब को मार्ग बतलाने वाले गांधीजी नगर छोड़कर

कुछ करने योग्य हो । तुमने जनता को बहुत शांति दी है । अब जन–कल्याण के लिए जो कुछ करना शेष रहा हो, प्रसन्नता के साथ करो ।

भगवान् ने माता–पिता से कहा–यह आपकी कृपा है तो आप ऐसा कहते हैं । जो कुछ हुआ है, आपकी ही कृपा से हुआ है । अब भी आपकी कृपा है तो मैं आगे भी कुछ करूंगा ।

इस प्रकार भगवान् ऋषभदेव ने भी माता–पिता की कृपा चाही थी । इस बात का विचार करके आप अपने विषय में सोचिये–आप कितने भी पढ़े–गुने क्यों न हों, आपका बुद्धि–वैभव कितना ही विशाल क्यों न हो समाज में आपकी कितनी ही प्रतिष्ठा क्यों न हो, फिर माता–पिता के समक्ष विनम्रता धारण करना आपका कर्त्तव्य है । माता पिता के प्रति अगर आप विनीत हैं तो आपके सद्‌गुणों का विकास ही होगा। ऐसा करने से आपकी प्रतिष्ठा में वृद्धि ही होगी ह्रास होने की तो सम्भावना ही नहीं की जा सकती । अगर आप माता–पिता का आदर करेंगे तो निश्चय समझो कि लोग आपका भी आदर करेंगे ।

जो अविनीत है, जो माता–पिता की अवज्ञा करता है और जो माता–पिता की इच्छा एवं आज्ञा के विरुद्ध चलता है वह कुल के लिए अंगार है । इसीलिए वह अविनीत कहलाता है । इसके विरुद्ध विनीत का अर्थ पुरुषोत्तम या विष्णु है । जो कुल, समाज, धर्म और माता–पिता के प्रति विनीत होकर रहता है, उन्हें पूजनीय मानता है, उनके वचनों की आदरणीय

समझता है, वह वास्तव में पुरुषोत्तम है ।

कहा जा सकता है कि किसी प्रकार सामाजिक सुधार करना आवश्यक हो और बड़े–बूढ़ें लोग अपने पुराने संस्कारों के कारण उस सुधार के विरोधी हों तो ऐसी दशा में क्या करना चाहिये ? इस प्रश्न के उत्तर में यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि आपको जो सुधार करना है वह विनयपूर्वक करना है या अविनयपूर्वक करना है ? आप जो सुधार करना चाहते है।, उससे बड़े–बूढ़े अगर सहमत न हो सकते हों तो समझ लेना चाहिए कि अभी सुधार का उपयुक्त समय नहीं आया है अतएव इस कारण अविनीत होकर उनकी अवज्ञा करना उचित नहीं है । किसी आम के वृक्ष में अगर जल्दी फल नहीं लगते तो क्या उसे काट डाला जाता है ? उसके विषय में यह सोचकर धैर्य रखा जाता है कि आज नहीं तो फिर कभी न कभी फल लगेंगे ही अतएव सुधार के लिए सहमति न मिलने पर धैर्य रखना चाहिए । अविनीत नहीं होना चाहिए ।

भगवान् के माता–पिता ने कहा–पुत्र, तुम बुद्धिमान् और सब लोगों के नियामक हो । जैसे चाहो वैसा करो । यह तुम्हारी विनीतता है कि तुम हम लोगों से पूछते हो ।

महापुरुष का चरित्र ऐसा है कि प्रत्येक व्यक्ति उनका आचरण कर सकता है । वह ऐसा नहीं हो सकता की कल्पना में ही न आ सकता हो । कुछ लोगों ने उनको आध्यात्मिकता के मार्ग में साधारण जनता से भिन्न बतला दिया हैं और उनके चरित्र में अत्युक्ति कर दी है लेकिन

वास्तव में महापुरुष का चरित्र इतना सरल और सादा होता है कि जिसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति आचरण कर सकता है।

भगवान् ऋषभदेव ने माता–पिता की आज्ञा लेकर दीक्षा लेने की तैयारी की । उनके साथ चार हजार राजपुत्र दीक्षा लेने के लिए तैयार हुए । भगवान् ने भरत को विनीता नगरी का और बाहुबली को तक्षशिला का राज्य सौंपा । शेष पुत्रों को भी यथोचित राज्य दिया । यह कहके भगवान् ने पुत्रों को उपदेश दिया कि तुम लोग न्याय नीति–से राज्य करना । यह न हो कि विपरीत मार्ग पकड़ लो ।

प्रत्येक प्रारम्भिक कार्य में कष्ट होता ही है । श्री हेमचन्द भाई ने उदयपुर में अपने भाषण में कहा था कि अब तो इंजिन बनाना सरल हो गया है, लेकिन जब पहले पहल बनाया गया था तब बड़ी कठिनाई हुई थी । जुती हुई जमीन में खेती करना कठिन नहीं है । भगवान् सवेरे पहले संयम लेने को तैयार हुए थे । उनसे पहले किसी ने संयम धारण नहीं किया था । ऐसी स्थिति में संयम के मार्ग में कठिनाई होना स्वाभाविक ही था । इस बात को दृष्टि में रखकर भरत ने संयम लेने को तैयार हुए चार हजार राजपुत्रों से कहा–संयम धारण करने का कार्य अभी प्रारम्भिक है । अतएव आप लोगों को इससे बड़ा कष्ट होगा । भगवान् जब संयम का मार्ग साफ कर दें तब आप दीक्षा लेना । भरत के इस प्रकार समझाने पर भी वे लोग नहीं माने । उन्होंने कहा 'जब भगवान् कष्ट उठाएंगे तो हम लोग क्यों न उठाएंगे ? अतएव हम भगवान् के साथ जाएंगे । आपकी इचछा है तो आप

पर ही रहिये।'

यह उत्तर सुनकर भरत चुप हो गगये । बड़े लोग किसी बात को एकबार कहते हैं । अतएव भरत ने बार–बार नहीं कहा । उन्होंने मन में सोचा–प्रारम्भिक उत्साह ऐसा ही होता है ।

भगवान् दीक्षा लेकर वहां से चल दिये । उस समय उनकी माता ने कहा–यह क्या ? घर का मार्ग भूल रहे हो ? घर की ओर क्यों नहीं चलते ?

माता के यह कहने पर भी भगवान् मौन रहे । तब इन्द्र ने माता से कहा–अब भगवान् घर नहीं लौट सकते । वे लोगों को तत्त्वज्ञान सिखाएंगे । संयम का मार्ग ऐसा ही है।

माता ने प्रश्न किया तो यह कब घर लौटेंगे ?

इन्द्र ने उत्तर दिया एक हजार वर्ष बाद ।

माता को संख्या का पता नहीं था । उन्होंने सोचा उंह! एक हजार वर्ष का क्या है । फिर माता ने प्रश्न किया–ऋषभदेव बोलते नहीं ?

इन्द्र ने कहा–तत्त्व ज्ञान सिखाने का मार्ग है ।

मता–इनके बिना तो घर सूना–सूना लगेगा ।

इन्द्र–आपकी आज्ञा लेकर ही तो भगवान् निकले हैं ।

माता मुझे क्या पता था कि यह घर त्याग कर जाएंगे?

लेकिन मुझे विश्वास है कि ऋषभ वही करेगा जिससे सबका कल्याण होता होगा । मैं इनके काम में विघ्न नहीं डालना चाहती ।

भगवान् चल दिये । माता घर लौट तो आई पर उन्हें सारा घर सूना दिखाई देने लगा ऋषभ के बिना उनके लिए सारा संसार सूना था । माता की यह अवस्था अत्यन्त गहरे स्नेह से परिपूर्ण थी । उस अवस्था के आधार पर भक्ति का ज्ञान लिया जा सकता है । यद्यपि माता की सेवा करने के लिए भरत जैसा पौत्र उनके पास मौजूद था और भरत की रानियां भी उनकी सेवा करती थी, फिर भी ऋषभ के बिना सर्वत्र सुनसान दिखाई देता था । अतएव रात–दिन ऋषभ का ही स्मरण आता रहता था उनकी आंखों के आगे ऋषभदेव की आकृति झूला करती थी । उन्हें कहीं कुछ भी अच्छा न लगता । भक्ति का मार्ग ऐसा ही होता है ।

आप लोग दुःख के समय तो परमात्मा को याद करते हैं मगर सुख के समय भूल जाते हैं । अगर आप सुख और दुःख दोनों के समय परमात्मा का स्मरण करें तो क्या परमात्मा की प्राप्ति न हो ?

उधर भगवान् मौन पूर्वक भिक्षा के लिए घर–घर घूमते। लोगों के घर अन्न की कमी नहीं थी और हृदय में भक्ति की भी कमी नहीं थी, लेकिन लोगों को भोजन देने की विधि मालूम नहीं थी । भगवान् मुख से कुछ बोलते नहीं थे और लोग देने की विधि जानते नहीं थे । अतऐव भगवान् और उनके साथियों के दिन भूख ही भूख में निकलने लगे । दिन

बीता दो दिन बीते और इसी प्रकार ज्यादा दिन बीतते गये। भगवान के चार हजार साथी भूख के दुःख से बुरी तरह घबरा उठे । वे लोग आपस में सोचने लगे हम लोग भूख के मारे मर रहे हैं और भगवान् कुछ बोलते नहीं है । लौटकर घर चलते हैं तो भरत कहेंगे कि मैंने पहले ही रोका इस तरह उनका उपालम्भ सुनना पड़ेगा । यह तो बड़ा ही कष्ट आ पड़ा है ?

अन्न वे प्राणा । अन्न के बिना मनुष्य घबरा जाता है । यही कारण है कि नौ पुण्यों में अन्नपुण्य को पहला स्थान दिया गया है ।

भगवान् के चार हजार साथियों ने घबरा कर यह निश्चय किया कि हम लोगों को न तो भगवान् के साथ रहना चाहिये और न घर ही लौटना चाहिये । हमें बीच का कोई भी मार्ग अख्तियार करना चाहिये । इस तरह निश्चय करके उन्होंने भगवान् का साथ छोड़ दिया और जिसे जो अनुकूल लगा, उसने वही रास्ता पकड़ लिया ग्रन्थों में कहा है कि उसी समय से नाना मत–मतान्तरों का आविर्भाव हुआ । भगवान् के साथी भगवान् से अलग होकर कन्द, मूल, फल, फूल आदि खाकर अपने–अपने मार्ग के प्रवर्त्तक बने ।

उधर भगवान घर–घर घूमते थे । भगवान के पहुंचने पर कोई कहता–प्रभो हम हाथी पर बैठे और आप पैदल चलें, यह ठीक नही है । अतएव कृपा कर आप यह हाथी लीजिये और हमें अनुग्रहित कीजिये । इस तरह कोई कुछ देना चाहता था और कोई कुछ देना चाहता था । भगवान लोगों

की श्रद्धा देखकर मौनभाव से मुस्करा कर आगे चल देते थे। तब लोग अंदाज लगाते—हम ने भूल की है । भगवान् इतना बड़ा हाथी लेकर क्या करते ? उसे कहां रखते और क्या खिलाते ? उन्हें हाथी की आवश्यकता होती तो घर से ही हाथी लेकर क्यों न निकलते ? मालूम होता है कि भगवान् ने हाथी का त्याग कर दिया है ।

दूसरा कोई भगवान् के सामने उत्तम घोड़ा पेश करता। विनय पूर्वक वे कहते—नाथ ! यह बहुत उत्तम घोड़ा है । इसे स्वीकार कीजिये । आप को इसकी सार संभाल नहीं करनी पड़ेगी । हम साईस बन कर आपकी सेवा में रहेंगे । लेकिन भगवान् घोड़ा छोड़ कर जब आगे चल देते तो लोग समझते कि भगवान् ने घोड़ा भी त्याग दिया है !

इस प्रकार भगवान् स्वयं कष्ट सहन करके लोगों को विधि के मार्ग के समीप लाते जा रहे थे । प्रारम्भिक कार्य में इस प्रकार के कष्ट सहने ही पड़ते हैं ।

कभी—कभी लोग सोचते—भगवान् के पास सेविका नहीं है । एक सेविका उन्हें देनी चाहिये । यह सोच कर लोग अपनी कन्या को सजा कर उससे कहते 'कन्ये, हम तुझे भगवान् के लिये समर्पित करते हैं । तेरा सौभाग्य है कि तुझे भगवान् क़ी सेवा करना' कौन कन्या भगवान् की सेवा के लिये तैयार न हो जाती ? अतएव लोग अपनी कन्या को समझाकर तैयार रखते और जब भगवान् भिक्षा के लिए आते तो वे कन्या को आगे करके—'प्रभो ! यह कन्या आपकी सेवा में समर्पित है । आप इसे स्वीकार कीजिये । यह आपकी

भली–भांति सेवा करेगी । कोई कष्ट आपको नहीं होने देगी। यह नम्र और सुलक्षण है । इसके भरण–पोषण की चिन्ता आपको नहीं करनी पड़ेगी ।' मगर भगवान् क्या कन्या ले सकते थे ? वे मन्द स्मित के साथ आगे चल देते । तब लोग सोचते–हम भूल कर रहे हैं । भगवान् को सेविका की आवश्यकता होती तो वे सुनन्दा और सुमंगला को ही क्यों छोड़ते ?

लोगों के घर में पर्याप्त अन्न था । मगर लोग सोचते–भगवान् को अन्न जैसी साधारण वस्तु क्या देना ! अतएव कोई–कोई हीरा, पन्न, सौना आदि देने को तैयार होते। पर भगवान् जब ऐसी कोई भी चीज ग्रहण न करते तो लोग समझ जाते कि भगवान् इन सब चीजों के त्यागी हैं ।

इस प्रकार निराहार रहते भगवान् को एक वर्ष बीत गया । यद्यपि भगवान् का शरीर सुदृढ़ और बलिष्ठ था । फिर भी अन्न के अभाव में शरीर का कुम्हला जाना स्वाभाविक था । सर्वत्र यह बात प्रसिद्ध हो गई कि भगवान् कुम्हला रहे हैं । सभी लोग इस बात से चिन्तित हुए । मगर आहार देने की बात किसी को न सूझी ।

एक बार विचरते–विचरते भगवान् तक्षशिला पहुंचे । वहां ध्यान लगाकर खड़े रहे । बाहुबली को भगवान् के पदार्पण का वृत्तान्त विदित हुआ । उस समय संध्या हो चली थी उन्होंने सोचा–अब शाम हो गई । प्रातःकाल होते ही पूरी तैयारी के साथ भगवान् के दर्शन करना ठीक होगा । लेकिन प्रातःकाल उन्हें मालूम हुआ कि भगवान् अन्यत्र विहार कर

गये हैं । यह जानकर बाहुबली पश्चात्तप करने लगे कि मैं धूमधाम और प्रसिद्धि चाहता था । मेरे हृदय में सच्ची भावना न होने के कारण ही भगवान् विहार कर गये और मैं उनके दर्शन से वंचित रह गया ।

आज भी धूमधाम तो बहुत की जाती है, लेकिन भगवान् का हार्दिक सत्कार कम किया जाता है ।

विहार करते करते भगवान् गजपुर पधारे । वहां भगवान् के प्रपौत्र और बाहुबली के पौत्र राजा श्रेयांसकुमार राज्य करते थे । उनके पिता राज्यकार्य से निवृत्त हो गये थे । पिता जब त्याग का आदर्श रखता है तो पुत्र भी त्याग सीखता है और जब पिता ही कनक–कामिनी के लिए हाय–हाय करता हुआ मरता है तो संतान भी यही शिक्षा लेती है । ऐसी स्थिति में संतान में त्याग भावना आना बहुत कठिन है ।

श्रेयांसकुमार ने स्वप्न में देखा सुमेरु पर काठ लगा था सो श्रेयांस ने दुग्ध से धोकर साफ कर दिया । कल्पवृक्ष सूखा जा रहा है और मैंने उसे सींचा है । दूसरी और श्रेयांसकुमार के पिता ने यह स्वप्न देखा कि एक महापुरुष को शत्रुओं ने घेर लिया है; लेकिन श्रेयांसकुमार ने उन्हें भगाकर महापुरुष की रक्षा की है । तीसरे वहां के नगर सेठ को स्वप्न आया । उसने स्वप्न में देखा कि सूर्य की सब किरणें गिर पड़ी है और श्रेयांसकुमार ने उन्हें फिर सूर्य में लगा दिया । प्रातःकाल तीनों एक जगह बैठे और सोचने लगे कि इन स्वप्नों का क्या अर्थ है ? स्वष्टरूप से तो कोई बात समझ में नहीं आई, मगर अन्त में सब लोग इस निर्णय पर आये कि श्रेयांशकुमार के

हाथ से कोई महान् और श्रेष्ठ कार्य होगा ।

श्रेयांसकुमार गोखड़े (गवाक्ष) में बैठे थे । उसी समय उन्होंने भगवान को आते देखा । भगवान् को आते देखकर वह सोचने लगे–स्वप्न क्या यही फल जान पड़ता है । भगवान् किस प्रकार सूख रहे हैं इनका शरीर तप से कितना दुर्बल हो गया है ।

भगवान् को देख कर श्रेयांसकुमार आनन्दित हुए । उसी समय जाति स्मरण–ज्ञान उत्पन्न हो गया । उन्हें मालूम हुआ कि पूर्वभवो में मैं इनकी पत्नी, इनका मित्र और इनका सारथी रह चुका हूं । इस भव में यह मेरे प्रपितामह हैं। लोग जानते नहीं कि इन्हें क्या और किस विधि से देना चाहिये ! इसी कारण भगवान् इतने दुर्बल हो गये हैं ।

श्रेयांसकुमार महल से नीचे उतरे । उन्होंने भगवान् से कहा–प्रभो ! मैं जानता हूं कि आपको और कुछ नहीं चाहिये, केवल आहार चाहिये । आप मेरे यहां पधारें, मरे यहां आपके योग्य जो निर्दोष आहार होगा वह मैं आपको दूंगा ।

हीरा–पन्ना आदि की उपेक्षा करके भगवान् अन्न का दान लेने के लिये चले । इसी तरह का दान सुपात्र दान कहलाता है ।

श्रेयांसकुमार का कथन सुनकर भगवान ने सोचा–अब मेरे पारणे का समय आया है । यह सोचकर वह श्रेयांसकुमार के पीछे–पीछे चले । श्रेयांसकुमार उन्हें भावपूर्वक अपने भोजनगृह में ले गये । लेकिन वहां ऐसा कोई आहार नहीं था

जो भगवान् को दिया जा सकता । भगवान् के निमित्त आहार तैयार किया नहीं जा सकता था और उनके योग्य तैयार आहार था नहीं । श्रेयांसकुमार कुछ असमंजस में पड़ गये । उसी समय उनहोंने देखा कि भेंट में आये हुये इक्षु रस के 108 घड़े रक्खे हैं । यह विचार आते ही उन्हें संतोष हुआ । उन्होंने कहा प्रभो ! यह रस आपके योग्य है । इसे ग्रहण कर मुझे कृतार्थ कीजिये ।

भगवान् ने सोचा–यह रस शुद्ध, सात्त्विक और मेरे लेने योग्य है । भगवान् ने यह सोचकर श्रेयांशकुमार के सामने–कर पात्र कर दिया । भगवान के पाणी पात्र में श्रेयांसकुमार ने रस की धारा छोड़ी । यह देखकर देव–देवियां की प्रसन्नता का पार नहीं रहा । सभी को चिन्ता हो रही थी कि भगवान् रूपी कल्पवृक्ष सूखा जा रहा है । और इस बात की प्रतीक्षा में थे कि किसके हाथ से यह सींचा जायगा । राजा श्रेयांसकुमार के हाथ से सींचा जाते देख देवों को भी अत्यन्त प्रसन्नता हुई। देव जय–जय कार करते हुए रत्न आदि की वर्षा करने लगे। वह मानो कहने लगे–हे मनुष्यों ! तुम कितन भाग्यशाली हो कि सुपात्र को दान दे सकते हो ! हम तो दान की महिमा का बखान ही कर सकते हैं, दान नहीं दे सकते । तुम्हारा सौभाग्य असाधारण है ।

मनुष्य भव इतना उत्तम है । फिर भी बहुत से लोग देवों की लालसा करते हैं और सोचते हैं कि एक देव कहीं मिल जोय तो उसकी सहायता से सब लोगों को लूटकर अपना घर भर लूं। लकिन देव इस तरह नहीं मिला करते। आप में धर्म होगा तो देव आप ही आपकी सेवा करेंगे । कहा

भी है –

देवा वि तं नमंसंति जस्स धम्मे सया मणो ।

अगर आपके अन्तःकरण में धर्म का वास है तो देव आपके दास हैं । मगर आप धर्म की उपेक्षा करते हैं और देवों के गुलाम हो रहे है। । वह गुलामी भी पैसों के लिये करते हैं। देव आपके हृदय को जानते हैं । वे आपके पास कैसे आ सकते हैं । आपके हृदय में शुद्ध धर्म होगा तो देव बिना बुलाये ही आपके पास दौड़े आएँगे ।

भगवान् ऋषभदेव का पारण श्रेयांसकुमार के हाथ से हुआ । देवगण दुन्दुभी बजाकर श्रेयांसकुमार का यशोगान करने लगे । तप तो भगवान ने किया था और यश श्रेयांसकुमार का गाया जाने लगा । ऐसी बात को ध्यान में रखकर ही आगम में कहा गया है –

दुल्हा उ मुहादाई मुहाजीवी वि दुल्लहा ।
मुहादाई मुहाजीवी दोवि गच्छन्ति सुगग्ई ।

अर्थात्–निष्काम तप करने वाले और निस्पृह जीवनयापन करने वाले पात्र दुर्लभ हैं और निस्पृह भाव से उनकी सेवा करने वाले दाता भी दुर्लभ हैं । जहां दोनों का संयोग होता है वहां दोनों को ही सद्गति होती है ।

धन्य हैं भगवान सरीखे तपस्वी और धन्य है श्रेयांसकुमार जैसे दाता ।

राज्य करते हुए लोगों की भावना कैसी रहती है और

श्रेयांसकुमार की भावना केसी रही ? ऐसी भावना जिनकी होती है उनका कल्याण होने में देर नहीं लगती आपके पास राज्य तो नहीं है लेकिन घर है । घर के काम करते हुए भी आपकी भावना दूसरों का कल्याण करने की रही तो आपका भी यश गाया जायेगा । आप गृहस्थ लोग कदाचित् इस बात की उपेक्षा भी कर सकते हैं मगर हम लोगों–साधुओं को तो क्षण भर भी उपेक्षा नहीं करना चाहियये । हमने यदि भगवान् ऋषभदेव की शरण में जाने के लिये ही संयम लिया है तो हमें भगवान ऋषभदेव को और उनके महान् कार्यों को ही देखना चाहिये । हमें संसार के झंझटों में नहीं पड़ना चाहिये । मैं चाहूं आप और हम दोनों ही भगवान् ऋषभदेव के मार्ग पर चल कर आत्मा का कल्याण करें ।

भगवान् ऋषभदेव को जैनशास्त्र में भी महापुरुष माना गया है और वैदिक सम्प्रदाय के साहित्य में भी । भागवत में भी कहा है –

नित्यानुभूतनिजलाभनिवृत्ततृष्णः,
श्रेयस्य तद्रचयना चिरयसुप्तबुद्धेः ।
लोकस्य यः करुण्या ऽ भयमात्मलोक–
माख्यान्नमो भगवते ऋषभाय तस्मै ।

(भागवत स्क. 5 अ 6)

वेदव्यासजी कहते हैं–मैं उन ऋषभदेव को प्रणाम करता हूं जिन्होंने नित्य आत्म तत्त्व का चिन्तन किया और इस कारण जिनकी चिन्ता नट हो गई हैं । चिन्ता का नाश हो जाने पर भी जिन्होंने जगत के कल्याण के कार्य नहीं

त्यागे हैं । जिन्होंने बहुत काल से प्रमाद में पड़े हुए लोगों को आत्मतत्त्व समझाया और ऐसा मार्ग बतलाया जिससे आत्मा पूर्ण अभय-पद प्राप्त कर सकें ।

इस कथन के आधार पर समझा जा सकता है कि भगवान् ऋषभदेव को वेदव्यासजी किस दृष्टि से देखते हैं और वैदिक ग्रन्थों में भी भगवान का स्थान कितना उच्चतर है? वेदव्यासजी भगवान ऋषभदेव को तृष्णा का नास कर डालने के कारण नमस्कार करते हैं । वे अभय देने वाले को नमस्कार करते हैं तो क्या हम लोग भय देने वाले को नमस्कार करते हैं ? नहीं । इस तरह जिन्हें वे मानते है। उन्हीं को हम मानते हैं और जिन्हें हम मानते हैं उन्हीं को वे भी मानते हैं । हमारे और उनके ऋषभदेव मे कोई अन्तर नहीं है ।

दूसरे को अभय वही दे सकता है जो स्वयं निर्भय हो। जो स्वयं भयभीत होगा वह दूसरे को निर्भय कैसे करेगा ? अतएव अभय देने के लिए निर्भय बनना आवश्यक है । लेकिन निर्भय वही बन सकता है जो आत्मा और शरीर को भिन्न-भिन्न मानता है और समझता है कि आत्मा अमृत है । ऐसी श्रद्धा प्राप्त करके आप भी निर्भय बन सकते हैं । अभी तक आपने आत्मा को बहुत भय दिया है । अब आत्मा का भय मिटाओ । आप आत्मा को अमृत समझने लगेंगे तो भय आपसे भयभीत होगा । आप पूर्णरूप से निर्भय बन जाएंगे ।

मित्रों ! आत्मविश्वास रखो । आपको धन आदि पर जैसा विश्वास है वैसा विश्वास अपनी आत्मा पर नहीं है । पर

यह मत भूल जाओ कि जिन्हें धनादि बाह्य पदार्थों का ही विश्वास था वे लोग नष्ट हो गये । जिनहें आत्मविश्वास था उनके विषय में कहा भी है –

न हि कल्याणकरः कश्चिद् दुर्गतिं तात ! गच्छति ।

अगर आप आत्म–बल पर भरोसा रखे तो आपका अकल्याण कदापि नहीं हो सकता । अतएव आत्मकल्याण करने और उसके लिये अभय पद प्राप्त करने को तैयार हो जाओ । पुर्यषण पर्व के आठ दिन इसी प्रयोजन के लिये हैं। दूसरे पर्वों पर घर–बाहर का कचना सा्ु किया जाता है लेकिन रस पर्व पर आत्मा का कचरा साफ किया जाता है आत्मा में जमे हुए कचरे को निकाल कर आत्मा को पवित्र बनाने के लिये ही यह पर्व है । अगर आत्मा का मैल हटाने के लिए अधिक कुछ न कर सको तो, इस कविता में जो कुछ कहा है उसका ही पालन करो । कवि कहता है –

दुखी दर्दी के कोई भुलेला मार्गवाला ने,
विसामो आपवा धरनी उधांड़ी राखजो बारी ।
गरीबोनी दाझ साँभलवा अवरना दुःख जोवाने,
तमारा कर्ण नेत्रोनी उघाड़ी राखजो बारी ।
प्रणयनो वायरो वावा कुछन्दी दुष्ट वाजावा,
तमारा शुद्ध हृदयोनी उगाड़ी राखजो बारी ।
थयेला दुष्ट कर्मोना छटा जंजीर थीं थावा ।
जरा सा कर्म नीनोनी उघाड़ी राखजो बारी ।

शास्त्र में श्रावक के लिए जो कुछ कहा है इस कविता को उसका अनुवाद ही किया जा सकता है । भगवती सूत्र में

श्रावक का वर्णन करते हुए उसे 'अंभंगुअदुवारे' कहा है । अर्थात् श्रावकों के द्वार सदा खुले रहते थे । वे कृपण नहीं होते थे कृपणता और श्रावकपन का साथ नहीं निभ सकता । अतएव वे श्रावक अपने द्वार सदा खुले रखते थे ।

द्वार किसके लिए खुले रखने की आवश्यकता है ? आपके लिए तो आपका द्वार खुला ही रहता है, फिर खुला किस के लिए रखना चाहिये ? मैंने घाटकोपर में एक घर के द्वार पर एक पाटिया लगा देखा था । उस पर लिखा था–'बिना इजाजत कोई अन्दर न आवे' जिस द्वार पर ऐसी सूचना लिखी हो उसमें मैं कैसे प्रवेश कर सकता हूं ? आप अपने घर पर तो ऐसा पाटिया नहीं लगाते ? अगर लगाते हैं तो यह भी समझ लीजिये कि जो आपसे जबर्दस्त है वह तो आपकी ऐसी सूचना की परावह नहीं करेगा । लेकिन मुझ जैसे भिखारी को तो घर में घुसने से रुकना ही पड़ेगा । अतएव यह सोचने की आवश्यकता है कि आपको अपने घर का द्वार किसके लिये खुला रखना चाहिये ? जब शास्त्र में श्रावक को 'अभंगुयदुवारे' कहा है तो स्पष्ट है कि श्रावक के घर का द्वार सबके लिये खुला रखना चाहिये । क्या आपका द्वार सबके लिये खुला रहता है ! आपके घर से कोई निराश नहीं लौटता ? गृहस्थ के विषय में नीतिकार कहते हैं ! –

अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात् प्रतिनिवर्तते ।
स तस्मै दुष्कृतं दत्वा पुण्यमादाय गच्छति ।।

पुण्य आप ले जाता है ।

कहा जा सकता है कि ऐसा किस प्रकार हो सकता है? पुण्य–पाप का आदान–प्रदान होना संभव नहीं है । इस कथन का समाधान यह है कि आपके यंहा जो आता है वह आपको महान् समझ कर ही आता है । लेकिन आपके यहां से उसे गाली मिलती है । तो वह क्या समझता है ? वह यही सोचता है कि मैं कैसे तुच्छ आदमी के घर आ पहुंचा ! इस तरह पहले आपकी पुण्याई समझी जाती थी वह समाप्त हो गई । इसके अतिरक्त भिखारी मीठा बोलता हुआ आपके घर आता है । आप इसके विपरीत ही अगर व्यवहार करें–उसे जली–कटी सुनावें और वह नम्र होकर ही बोलता रहे तो यह पुण्य–पाप का लेना–देना हुआ या नहीं ? इसी कारण भगवान् ने श्रावक का 'अभंगुयदुवारे' कहा है ।

आपसे कोई यह नहीं कहता कि आप अपनी शक्ति से अधिक कुछ करें । मगर अपनी शक्ति के अनुसार तो दूसरों की भलाई के काम करना ही चाहिये । कोई भी सार्वजनिक दवाखाना संसार के समस्त रोगियों को दवा नहीं दे सकता। फिर भी उसमें अगर प्रत्येक आने वाले को दवा दी जाती है तो वह सार्वजनिक कहलाता है । इस प्रकार आप भी सबकी सेवा नहीं कर सकते । लेकिन जो आपके पास आता है उसकी सेवा यथाशक्ति तो करनी चाहिये ।

इसी भावना के लिये संवत्सरी आती है । संवत्सरी के दिन ऐसी ही उदार भावना जागृत करने की साधना करना चाहिए । इस भावना में अगर कोई त्रुटि नजर आती हो तो

उसे निकाल डालो और जो दुखी–दर्दी आवे उसे विश्राम देने के लिए अपने घर का द्वार खुला रखो ।

हाथी के भव में मेघकुमार ने अपने लिये मंडल बनाया था । लेकिन वन में दावानल सुलगने पर जब दूसरे जीव उस मंडल में आ घुसे तो क्या उसने अपने मंडल में से निकाल दिया था । वह मंडल तो हाथी ने स्वयं परिश्रम करके बनाया था और आपने अपना मकान बनाने में शायद ही परिश्रम किया हो । फिर भी अगर आप दीन दुःखी के विश्राम के लिये अपने घर का द्वार खुला नहीं रखते तो क्या कहा जाये ? हाथी पशु है । मनुष्य को उससे गया–बीता नहीं होना चाहिये ।

बड़े आदमियों की बात सुनने के लिये आप अपने कान खुले रखते हैं । किन्तु अगर आपने दुखियों की कराह सुनने के लिय कान खुले न रखे तो आपके कान सॉप के बिल के समान ही हैं । जिन शब्दों को सुनने से हृदय में करुणा उत्पन्न होती है, उन्हें न सुनना अनुचित है । भगवान् नेमिनाथ ने तो तोरणद्वार पर भी पशुओं की पुकार सुनी थी । आप अपने भाई की भी पुकार न सुनें–उसका भी दुख न मिटावें, यह कितना अनुचित है !

अब तक जो भूल हुई है उसका सुधार करो । अब दूसरों का दुख–दर्द दूर करने की भावना रखो । जब आपका राजा भी दूसरों का दुःख–दर्द सुनता है तो आप क्या अपनी जाति के गरीब भाइयों का भी दुःख सुन सकेंगे ? और उस दर्द को नहीं मिटाएंगे ? आपके कान खोटे गीत और रिकार्ड

पुण्य आप ले जाता है ।

कहा जा सकता है कि ऐसा किस प्रकार हो सकता है? पुण्य–पाप का आदान–प्रदान होना संभव नहीं है । इस कथन का समाधान यह है कि आपके यहां जो आता है वह आपको महान् समझ कर ही आता है । लेकिन आपके यहां से उसे गाली मिलती है । तो वह क्या समझता है ? वह यही सोचता है कि मैं कैसे तुच्छ आदमी के घर आ पहुंचा ! इस तरह पहले आपकी पुण्याई समझी जाती थी वह समाप्त हो गई । इसके अतिरिक्त भिखारी मीठा बोलता हुआ आपके घर आता है । आप इसके विपरीत ही अगर व्यवहार करें–उसे जली–कटी सुनावें और वह नम्र होकर ही बोलता रहे तो यह पुण्य–पाप का लेना–देना हुआ या नहीं ? इसी कारण भगवान् ने श्रावक का 'अभंगुयदुवारे' कहा है ।

आपसे कोई यह नहीं कहता कि आप अपनी शक्ति से अधिक कुछ करें । मगर अपनी शक्ति के अनुसार तो दूसरों की भलाई के काम करना ही चाहिये । कोई भी सार्वजनिक दवाखाना संसार के समस्त रोगियों को दवा नहीं दे सकता। फिर भी उसमें अगर प्रत्येक आने वाले को दवा दी जाती है तो वह सार्वजनिक कहलाता है । इस प्रकार आप भी सबकी सेवा नहीं कर सकते । लेकिन जो आपके पास आता है उसकी सेवा यथाशक्ति तो करनी चाहिये ।

इसी भावना के लिये संवत्सरी आती है । संवत्सरी के दिन ऐसी ही उदार भावना जागृत करने की साधना करना चाहिए । इस भावना में अगर कोई त्रुटि नजर आती हो तो

उसे निकाल डालो और जो दुखी–दर्दी आवे उसे विश्राम देने के लिए अपने घर का द्वार खुला रखो ।

हाथी के भव में मेघकुमार ने अपने लिये मंडल बनाया था । लेकिन वन में दावानल सुलगने पर जब दूसरे जीव उस मंडल में आ घुसे तो क्या उसने अपने मंडल में से निकाल दिया था । वह मंडल तो हाथी ने स्वयं परिश्रम करके बनाया था और आपने अपना मकान बनाने में शायद ही परिश्रम किया हो । फिर भी अगर आप दीन दुःखी के विश्राम के लिये अपने घर का द्वार खुला नहीं रखते तो क्या कहा जाये ? हाथी पशु है । मनुष्य को उससे गया–बीता नहीं होना चाहिये ।

बड़े आदमियों की बात सुनने के लिये आप अपने कान खुले रखते हैं । किन्तु अगर आपने दुखियों की कराह सुनने के लिय कान खुले न रखे तो आपके कान साँप के बिल के समान ही हैं । जिन शब्दों को सुनने से हृदय में करुणा उत्पन्न होती है, उन्हें न सुनना अनुचित है । भगवान् नेमिनाथ ने तो तोरणद्वार पर भी पशुओं की पुकार सुनी थी । आप अपने भाई को भी पुकार न सुनें–उसका भी दुख न मिटावें, यह कितना अनुचित है !

अब तक जो भूल हुई है उसका सुधार करो । अब दूसरों का दुख–दर्द दूर करने की भावना रखो । जब आपका राजा भी दूसरों का दुःख–दर्द सुनता है तो आप क्या अपनी जाति के गरीब भाइयों का भी दुःख सुन सकेंगे ? और उस दर्द को नहीं मिटाएंगे ? आपके कान खोटे गीत और रिकार्ड

सुनने के लिए खुले रहते हैं तो क्या दुखियों का दुःख–दर्द सुनने के लिए नहीं खुले रहने चाहिये ? भगवान् कहते हैं–उन गंदे गीतों से तो श्रृंगार की भावना उत्पन्न होगी और दुःखियों की कष्ट कथा सुनने से करुणारस का उद्रेक होगा। तुम करुणारस जागृत करने वाली बात सुनो । शास्त्र में कहा है –

जं सोच्चा पडिवज्जंति तवं खंतिमहिंसयं ।

जिस बात को सुनने से अहिंसा, क्षता, तप आदि की भावना उत्पन्न हो, उसके लिए यही मानो कि हमने शास्त्र सुना है । क्योंकि शास्त्र सुनने से जिस भावना की जागृति होनी चाहिये उसी भावना की जागृति उस बात के सुनने से भी होती है ।

कान की भांति हृदय की भी बारी खुली रखो । अर्थात् हृदय में सद्भावना आने दो । जिस घर के किवाड़ खुले नहीं रहते और हवा का आवागमन जिस घर में नहीं हो पाता, उस घर की हवा खराब हो जाती है । ऐसी कई घटनाएँ सुनी गई हैं कि घर बन्द करके सोये, हवा का आवागमन नहीं रहा और इस कारण मृत्यु हो गई । अतएव जैसे घर में हवा आने का मार्ग खुला रखा जाता है, उसी प्रकार अपने हृदय में करुणा दया आदि आने के लिए मार्ग खुला रहने दो ।

यह संसार समुद्र है । कहते हैं, जब समुद्र मथा गया था तो उसमें अमृत भी निकला था और विष भी निकला था। इसी तरह इस संसार में भी विष और अमृत दोनों निकलते

हैं। विचारणीय यही है कि दोनों में से क्या लेना है ? समुद्र मंथन से निकलने वाले विष और अमृत के विषय में कहा जाता है कि जो लोग मोहनी पर ललचा गये उन्हें विष मिला और वे असुर कहलाए । अमृत नहीं मिला । जो नहीं ललचाया उन्हें अमृत मिला और वे देव कहलाए । इस पौराणिक आख्यान में से तथ्य निकालो । आप इस संसार–समुद्र से विष मत ग्रहण करो, अमृत लो ।

आपके लिये यह अपूर्व अवसर है । ऐसा सुअवसर पाकर भी अगर आप अपनी–अपनी आत्मा की उन्नति न करेंगे तो फिर कब करेंगे ? अतएव जिस प्रकार श्रेयांसकुमार ने सहज आया हुआ इक्षु–रस भगवान् ऋषभदेव को देकर अपूर्व लाभ लिया था, उसी प्रकार आपको सहजरूप से जो शक्ति मिली है, उसके द्वारा परोपकार करो । निश्चित समझो कि 'परोपकार' शब्द का प्रयोग करना तो प्रचलित भाषा है । वस्तुतः परोपकार शब्द 'स्वोपकार' ही है ।

---

9 : तल्लीनता

श्रीजिन अजित नमूं जयकारी, तू देवन को देवजी ।

यह भगवान् अजितनाथ की प्रार्थना है । भक्त परमात्मा से कहते हैं – हे नाथ ! तू देवाधिदेव होकर अजित हुआ।' जो अजित होता है वह दूसरों से पराजित नहीं होता । वही देवाधिदेव होता है । इस प्रकार भक्तों ने पूर्ण पुरुष का लक्षण बतला दिया है । पूर्णता प्राप्त हुए बिना सम्पूर्ण विश्व पर विजय प्राप्त करके अजित नहीं बना जा सकता ।

स्थूल दृष्टि से इस जगत् का व्यवहार बहुत लम्बा है कोई भी शक्तिशाली पुरुष तीन लोक में नहीं जा सकता । अतएव प्रश्न हो सकता है कि भगवान् ने तीनों लोकों पर कैसे विजय प्राप्त की ओर किस प्रकार वे 'अजित' पद के अधिकारी हुए ? इस प्रश्न के उत्तर में ज्ञानीजन कहते हैं कि भगवान् ने जो विजय प्राप्त की है वह बाहरी विजय नहीं है। आंतरिक विजय है । 'पिण्ड मे ब्राह्मण्ड' की नीति से भगवान् ने सब पर विजय प्राप्त की है । जो अपनी आत्मा के दुर्गणों पर विजय पा लेता है वह सम्पूर्ण त्रिलोकी पर विजय पा लेता है । अतएव आप अपनी आत्मा के दुर्गुणों को जीत कर अजित बनने का प्रयत्न कर सकते हैं ?

आप अपने हृदय को देखो, संसार को न देखो । जब आपका मन प्रसन्न होता है तब चाहे संसार कैसा भी क्यों न हो, पर आपको कैसा लगता है ? और जब मन प्रसन्न नहीं होता तब, संसार चाहे कितना ही अच्छा हो, आपको अच्छा नहीं लगता । यह बात ध्यान में रखकर ही कहा गया है –

तणसंथारनिसण्णो मुणिवर भट्ठरायमयदोसी ।
जं पावइ मुत्तिमुहं कत्तो तं चक्कवट्टीए ?

अर्थात्–जिनका राग, द्वेष और मद नष्ट हो गया है वे मुनि घास के आसन पर बैठे या लेटे हुए भी मुक्ति का जो आनन्द प्राप्त करते हैं वह आनन्द चक्रवर्ती को भी नसीब नहीं हो सकता ।

मुनि को इतना आनन्द क्यों प्राप्त होता है ? मन के प्रसन्न रहने पर ही सब वस्तुएं आनन्दप्रद होती है और जब मन प्रसन्न नहीं होता तो कोई भी वस्तु आनन्द दायक नहीं जान पड़ती । कल्पना कीजिए, किसी मनुष्य को सब प्रकार की सम्पत्ति और सब प्रकार वैभव प्राप्त है । उसकी सेवा करने के लिए सुन्दर स्त्री भी प्रस्तुत है । उसे एकाएक समाचार मिला कि तुम्हारा इकलौता लड़का विदेश में मर गया है । यह समाचार मिलने के बाद उसे वह सम्पत्ति और वैभव कैसा जान पड़ेगा ? उसके वैभव में किसी प्रकार की न्यूनता नहीं हुई है, न धन ही कम हुआ है, न स्त्री कहीं चली गई है; फिर भी उसे कोई भी वस्तु अच्छी नहीं लगेगी । इसका कारण यही है कि उसका मन प्रसन्न नहीं है । इसके

विरुद्ध मानसिक प्रसन्नता की स्थिति में यह सब वस्तुएं न हों तो भी मन आनन्दित रहता है । इस तरह यह बात सभी के अनुभव की है कि मन की प्रसन्नता से ही सब कुछ अच्छा लगता है और जब मन प्रसन्न नहीं होता तो कुछ भी अच्छा नहीं लगता ।

विज्ञान सामान्य से विशेष का पता लगाता है । इसी आधार पर महापुरुषों ने ऐसी बात देख कर आध्यात्मिक क्षेत्र में यह खोज की है कि जिनका मन पूर्ण शांत हो जाता है अथवा जिसका मन पूरी तरह आनन्दित रहता है उसको किसी आनन्द की कमी नहीं रहती और संसार की सम्पदा के अभाव में भी वह आनन्दित रहता है । ऐसा ही व्यक्ति त्रिलोक पर विजय प्राप्त करके अजित बन सकता है । इसी कारण भक्तजन भगवांन् अजितनाथ की प्रार्थना करते हुए कहते हैं—हे प्रभो ! तूने अपने मन को पूरी तरह शान्त करके सारे जगत् पर शरण में आता हूं, जिससे मैं भी मन को पूरी तरह शाँत करके अजीत बन सकू । इस ध्येय को प्राप्त करने के लिए मैंने अनेक देवों की सेवा की । लेकिन शांति नहीं मिली। मैंने जिनकी सेवा की वे स्वयं राग–द्वेष से भरे थे और उन्हें स्वयं ही दूसरे की शरण में जाने की आवश्यकता थी । ऐसी स्थिति मे उनके द्वारा शांति कैसे मिलती ? अन्त में मैंने गुरुमुख से श्रवण करके और स्वयं विचार करके निश्चय किया कि अब और कहीं न भटक–कर उन अजितनाथ भगवान् को ही शरण में जाना उचित हे जो राग–द्वेष को पूरी तरह जीत चुके हैं और मन पूर्ण शांत हो जाने से जो अजित पद के अधिकारी हो गए हैं । इस तरह सोचकर, हे प्रभो !

अब मैं तेरी शरण मे आया हूं ।

जिसने राघ–द्वेष जीत लिया है उसकी शरण में जाने के लिए सभी कहते हैं । इस कारण कोई यह न सोचे कि हम यहां कुछ और सुनते हैं और दूसरी जगह कुछ और सुनते हैं। जो सच्ची है, उसे आप कहीं भी सुने, उसमें तो भेद रहेगा ही और इस तरह के भेद का नाम ही संसार है । अतएव आप किसी प्रकार की गड़बड़ मे न पड़ कर भगवान् अजितनाथ की शरण में जाइये ।

भगवान् अजितनाथ की शरण मे जाने से आत्मा दासत्व से मुक्त हो जाता है और स्वामित्व को प्राप्त करता है ।

प्रश्न हो सकता है, अगर भगवान् वीतराग हैं, तो किसी पर वे दया क्यों करने लगे और ऐसी हालत में उनकी प्रार्थना करने या उनकी शरण में जाने से क्या लाभ है ? अगर भगवान् वीतराग होते हुए की करूणा करते हैं तो बिना प्रार्थना किये या बिना ही उनकी शरण में गये भी वे दया क्यों नहीं करेंगे ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि आत्मा में दासत्व से मुक्त होकर स्वामित्व प्राप्त करने की शक्ति है । तभी आत्मा दासत्व से मुक्त होकर स्वामी बन सकता है । आत्मा में यह शक्ति हो ही नहीं तो परमात्मा अपने पास से ऐसी शक्ति नहीं देता । फिर भी आत्मा को कुछ करने की आवश्यकता रहती है । उदाहरणार्थ–मिट्टी घड़ा बनती है । उसमें घड़ा बन जाने की शक्ति है । लेकिन वह आप ही घड़ा नहीं बन जाती । घड़ा बनाने वाले कर्त्ता के हाथ में जाने पर ही वह घड़ा

कुम्हार, चाक आदि की सहायता मिलने पर ही वह घड़ा बन सकती है । रोटी आटे से बनती है । लकिन जब नाने वाला हो तभी रोटी बनेगी । इसी प्रकार ओर भी बहुत से उदाहरण दिये जा सकते हैं । मगर स्थालीपुलाक न्याय से अर्थात्–एक चावल को टटोलने से जेसे हंडी के सब चावलों के पक्के या कच्चे होने का निर्णय कर लिया जाता है, उसी प्रकार इन दो उदाहरणों के आधार से ही यह कहा जा सकता है कि आत्मा में परमात्मा बनने की शक्ति है; फिर भी सामग्री अर्थात् कर्त्ता क्रिया करण आदि के मिलने पर ही काम होता है । इनके बिना काम नहीं हो सकता । आत्मा में परमात्मा के गुण विद्यमान हैं लेकिन जब तक आत्मा कर्त्ता बन कर निमित्त कारण रूप परमात्मा की सेवा नहीं करता है, तब तक उनके गुण प्रकट नहीं हो सकते । प्रत्युत आनादिकाल से जिस प्रकार भटकता आ रहा है उसी प्रकार भटकता फिरेगा । अतएव इस विषय में प्रयत्न करने की आवश्यकता है ।

कुम्हार मिट्टी लेकर बैठता है । लेकिन वह उसे मिट्टी ही नहीं रहने देता किन्तु घड़ा बनाता है । स्त्रियाँ आटा लेकर बैठती है मगर उसे आटा ही नहीं रहने देती किन्तु रोटी बनाती है । यद्यपि मिट्टी में घड़ा और आटे में रोटी बनने की शक्ति है, मगर उस शक्ति का आविर्भाव तभी होता है जब निमित्ति रूप से किसी की सहायता प्राप्त हो । इसी प्रकार आत्मा को भी अपनी शक्ति का आविर्भाव करने के लिए परमात्मा की सहायता की आवश्यकता है । बिना परमात्मा की सहायता के आत्मा परत्मामा नहीं बन सकता । इसीलिये तो परमात्मा की शरण ग्रहण करने की आवश्यकता है ।

आत्मा में परमात्मा बनने की शक्ति है, लेकिन आत्मा से एक बड़ी भूल यह होती है कि जिन कार्यों के करने से आत्मिक शक्ति का विकास होता है उन, कामों को भूलकर आत्मा दूसरे कामों में तन्मय बना रहता है । इसीलिए कहा गया है –

उपादान आतम सही पुण्टालम्बन देव ।
उपादान कारणपणे प्रकट करे प्रभु सेव ।

यानी आत्मा के परमात्मा बनने में उपादान कारण स्वयं आत्मा है । परमात्मा निमित्त कारण है । मगर निमित्त कारण के अभाव में अकेला उपादान कारण कार्य नहीं कर सकता । अतएव जैसे घड़े की उपादान कारण मिट्टी, कुम्हार रूप निमित्त कारण के अभाव मे घड़ा नहीं बन सकती, उसी प्रकार परमात्मा रूप निमित्त कारण के सेवन किये बिना आत्मा स्वयं परमात्मा नहीं बन सकता । तात्पर्य यह है कि प्रत्येक कार्य को निष्पन्न करने के लिये उपादान और निमित्त दोनों कारणों की अनिवार्य आवश्यकता होती है । दोनों में से किसी भी एक के अभाव में कार्य नहीं हो सकता । आत्मा का परमात्मा बनना भी एक कार्य है । उसके लिए भी उपादान और निमित्त कारणों की आवश्यकता है । उपादान कारण स्वयं आत्मा है और निमित्त कारण परमात्मा है । अतएव परमात्मा बनने के लिए परमात्मा की सेवा अनिवार्य है । परमात्मा की सेवा करते हीं आत्मा परमात्मा बनता है ।

जैसे सूर्य किसी भी प्रकार का भेदभाव किये बिना

सब को समान रूप से प्रकाश देता है, उसी प्रकार ज्ञानियों के समीप भी किसी प्रकार का भेदभाव नहीं रहता । इसलिये वे प्रेरणा करते हैं कि–हे आत्मन् ! तू अपने में कारणत्व उत्पन्न करने के लिय परमात्मा की शरण में जा। परमात्मा की शरण–ग्रहण करने में किसी प्रकार का संकोच मत कर । यह मत सोचो कि कैसे परमात्मा की शरण में जाऊँ । जिस तरह भी परमात्मा की शरण में जा सकता हो, उसी तरह जा । साध्य एक होता है, साधन अनेक होते हैं । अतएव साधनों के विषय में किसी प्रकार का व्यामोह न लाकर जिस किसी साधन से परमात्मा को शरण में जा सको, उसी साधन से जाओ, ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप, यह मुक्ति के चार साधन है । इनमें से सच्चे भाव से किसी भी साधन को अपनाने पर शेष स्वयं उसमें अन्तर्गत हो जाते हैं । अतएव इन चार साधनों में से जिसे अपनाने की अपने में शक्ति हो उसी साधन को मुख्यरूप से अपना कर और दूसरे साधनों की निन्दा न करके, दूसरे साधनों का विरोध न करके, मुक्ति प्राप्त कर सकते हो । अतएव साधन के विषय में किसी प्रकार का व्यामोह उत्पन्न करने की आवश्यकता नहीं है । जिस साधन को अपनाने की क्षमता तुम अपने में पाओ, उसी को अपनाओ। फिर सब साधन एक रूप ही बन जाएँगे । चारों में भेद ही प्रतीत नहीं होगा ।

एक कार्य की सिद्धिं के अनेक साधनों में से किसी एक को पकड़ लेने और दूसरे साधनों का विरोध करने पर कार्य की सिद्धि नहीं हो सकती । उदाहरण के लिये स्त्री

रसोई बनाती है तो उसके लिये आटा, पानी आग आदि सब साधनों के सहयोग की आवश्यकता होती है । सब का सहयोग होने पर ही रसोई बन सकती है । यह बात दूसरी है कि किसी वस्तु का निमित्त रूप से सहयोग होता है और किसी का उपादन रूप से । लेकिन सहयोग सभी का अपेक्षित रहता है। अब अगर कोई स्त्री यह सोचे कि रोटी तो आटे की बनती है, मुझे आग पानी आदि की कोई आवश्यकता नहीं है, तो क्या वह रसोई बनाने में सफल होगी ? दूसरे साधनों की निन्दा या उपेक्षा करके वह रसोई नहीं बना सकती । इसी प्रकार मोक्ष प्राप्त करने में भी अनेक साधनों की आवश्यकता होती है । उनमें से किसी एक का विरोध हुआ तो मोक्ष–प्राप्ति में बाधा होगी। इसी कारण कहा गया है –

मित्ती मे सव्वभूएसु ।

यानि सभी जीव मेरे मित्र हैं । यदि किसी एक जीव के प्रति भी अन्तःकरण में वैर भाव रह जाती है, तो मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता ।

जब आत्मा उच्च स्थिति में होता है तब सभी साधन अनुकूल हो जाते हैं । कोई भी साधन प्रतिकूल नहीं रहता हैं। कृष्ण के विषय में मैं कह ही चुका हूं । कंस ने उन्हें मार डालने के लिये अनेक प्रयत्न किये, लेकिन वे सब प्रतिकूल प्रयत्न कृष्ण के लिये अनुकूल हो गये । इस प्रकार आत्मा जब ऊंची स्थिति में पहुंच जाता है तो प्रतिकूल प्रकृति भी उसके अनुकूल हो जाती है । अतएव आत्मा को परमात्मा

शरण में ले जाने की आवश्यकता है । इस सम्बन्ध में नाम का भेद देखने की आवश्यकता नहीं है । तत्त्व पर ही दृष्टि रहनी चाहिये । नाम कुछ हो तत्त्व यदि एक है तो काफी है । कहा भी है –

यं शैवा समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो –
बोद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्त्तेति नैयायिकाः ।
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरता कर्मेति मीमांसकाः,
सोऽयं वो बिदधातु वांछितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः।

जो दुःखों को हरण करता है – नष्ट करता है वह हरि कहलाता है । उस हरि को कोई शिव भी कहते हैं । शिव का अर्थ भी यही है, अर्थात् जो कल्याण–सुख रूप है वह शिव है। अगर कोई शिव का नाम लेकर किसी के घर में आग लगाता है तो क्या उसने शिव का स्वरूप समझा है ? नहीं । शिव तो वही है जो सुख उत्पन्न करे । उसे वेदान्ती लोग ब्रह्म कहते हैं । लेकिन ब्रह्म को जानने वाले का क्या कर्त्तव्य है ? जो सबके सुख दुःख को अपना ही मानता है और प्राणीमात्र को ब्रह्मरूप देखता है, वही सच्चा वेदान्ती है । जो इसके विपरीत करता है, क्या उसने ब्रह्म को पहचाना है ? जो –

अत्तसमे मन्निज्जा छप्पि काये ।

इस कथन के अनुसार सब में ब्रह्म मानता है वही वेदान्ती है और उसी ने ब्रह्म को जाना है ।

बौद्ध उसे 'बुद्ध' कहते हैं । लेकिन बुद्ध को शान्ति के लिए माना जाता है या अशान्ति के लिये ? बुद्ध का नाम

लेकर आग लगाने का कोई समर्थन नहीं करता । सभी लोग शांति की हिमायत करते हैं । ऐसी दशा में बुद्ध, शिव या ब्रह्म में क्या अन्तर रहा ?

अब नैयायिकों की बात पर आइये । प्रमाण देने में पटु–नैयायिक जिसे कर्त्ता कहते हैं, वह कर्त्ता शान्ति देता है या अशान्ति देता है ? अगर वह अशान्ति देता है तो उसे यमराज कहा जायगा । अगर ईश्वर यमराज नहीं है तो उसे शांति दाता ही कहा जायगा और तब बुद्ध में, शिव में, ब्रह्म में या इसमें क्या अन्तर है ?

कवि कहता है कि जिनकी रति जैनशास्त्र में हैं, वे लोग उसे अर्हन् कहते हैं । लेकिन अर्हन् या अरिहन्त का स्वरूप क्या है और अर्हन्त को स्मरण करने वाले का कर्त्तव्य क्या है, यह देखना चाहिये । आप अर्हन्त का नाम जपकर भी उसका दुरुपयोग तो नहीं करते हैं ? आप में दूसरे का धन या दूसरे की स्त्री को हरण करने की शक्ति होने पर भी, ऐसा करते समय क्या आप मानते हैं कि परमात्मा सब कुछ देखता है ? आप ऐसा मानते हों तो क्या आपसे पाप हो सकता है ?

साधारण लोक–व्यवहार में अर्हन्त के उपासकों में दूसरे मतानुयायियों की अपेक्षा कोई खास विशेषता क्यों नजर नहीं आती ? पाप करते समय लोग परमात्मा से मानो यही कहते हैं कि तू यहां से हट जा । 'अरह' वह कहलाता है जिससे कोई बात गुप्त न रहे जो सभी कुछ जानता और देखता है । जब परमात्मा सर्वज्ञ और सर्वदर्शी है तो ?

उससे अपने पाप को कैसे छिपा सकते हैं ? अगर आप में यह भावना रही कि – हे प्रभो ! मेरे द्वारा पाप न हो और मैं तुझे सभी जगह व्यापक मानूं; तब तो आपने अर्हन्त को जाना हैं। नहीं तो क्या जाना है !

इसलिये मैं यह कहता हूं कि परमात्मा का नाम लेकर ही मत रह जाओ । यह मानो कि प्रभु सर्वज्ञ हैं और सर्वदर्शी है । वे सभी कुछ जानते–देखते हैं हमारा पाप उनसे छिपा नहीं रह सकता । अगर आपके अन्तःकरण में यह श्रद्धा वद्धमूल हो गई है तो क्या आप अपराध करने का साहस करेंगे ? आप राजा से डरते हैं मगर पाप करते समय परमात्मा का भय नहीं रखते, यही माया है । प्रकट में कुछ करना और अप्रकट में कुछ करना ही तो माया का लक्षण है। हम आपके सामने उपदेश देनें बैठें तो सन्त बन कर बैठें और उपदेश सुनावें लेकिन अकेले होने पर यह विचार करें कि यहां कौन देखता है, तो क्या हम सचमुच साधु हैं ? और क्या हमने सचमुच परमात्मा को सर्वज्ञ माना है ? क्या हमने लोगों को दिखाने के लिए ही साधुता अंगीकार की है ? हमारे लिये शास्त्र में कहा है–

से गामे वा नयरे वा रण्णे एगओ वा परिसागओ वा, सुत्ते वा जागरमाणे वा ।

अर्थात्– साधु चाहे ग्राम में हो, चाहे नगर में हो, चाहे वन में हो, चाहे अकेला हो, चाहे समूह में हो, चाहे सोता हो, चाहे जागता हो, उसे सदा एकसा रहना चाहिये। वह किसी भी समय परमात्मा को न भूले । ऐसा करने पर

ही हम सच्चे साधु हैं । अगर हममें यह बात न हो किन्तु प्रकट में कुछ और अप्रकट में कुछ करने लगें तो हमारे पास कौन फटकेगा?

आप हमारे पास आये हैं । लेकिन क्या लेने आये हैं ? इस बात पर आपको भी विचार करना चाहिए । हमारी सेवा करने के लिये आप हमारे पोटले तो उठाते नहीं है । हमारी सेवा यही है कि आप समभाव रखें । आपने समभाव रखा तब तो हमारी सेवा है । नहीं तो सेवा का नाम ही नाम है । हम आपसे कोई मिहनताना तो लेते नहीं है । समभाव रखने का उपदेश आपको मुफ्त ही मिल रहा है । इसलिए उसकी उपेक्षा मत करो और यहां आना तथा अर्हन्त के भक्त कहलाना सार्थक करो ।

मतलब यह है कि जैन लोग जिसे अर्हन् कहते हैं, वह भी तो शांति करने वाला ही है । फिर अन्तर क्या है ?

कवि आगे कहता है, मीमांसक उसे कर्म कहते हैं । वह कर्म क्या है ? सभी लोग अच्छे कर्म करने को ही कहते हैं । जैनशास्त्र कब कहते हैं कि बुरे काम करो । जैनशास्त्र अच्छे काम करने को ही प्रेरणा करता है ।

थोड़ी देर सामायिक में बैठकर अच्छे काम किये तो क्या हुआ ! जब आप व्यवहार में भी बुरे काम न करें किन्तु अच्छे काम करें, तभी समझना कि हम जैन के मार्ग पर हैं।

सारांश यह है कि नाम कुछ भी हो, काम देखो । अच्छे

काम द्वारा परमात्मा की शरण में जाओ । साथ ही जो कुछ भी करो, परमात्मा की शरण के लिये करो । इस लोक या परलोक सम्बन्धी सांसारिक सुखों की अभिलाषा से मत करो। शास्त्र में कहा भी है –

न इह लोवट्ठियाए तवमहिट्ठिज्जा, न परलोगट्ठयाए तवं अहिट्ठिज्जा, नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तवं अहिट्ठज्जा।

शास्त्र कहते हैं–हे भाइयों ! तुम्हारी क्रिया तुम्हें काम, क्रोध आदि की तरफ न ले जाये, इस बात का ध्यान रखो । तुम तपस्या आदि कोई भी करणी करो, पर वह इसलोक या परलोक की या और किसी वस्तु की लालसा से मत करो किन्तु निजेरा के लिए करो । परमात्मा की शरण में जाने के एकमात्र उद्देश्य से ही करो ।

जो लोग तपस्या करते हैं उनसे मेरा यही कहना है कि तुम्हारा तप निर्जरा के लिए ही हो और तपस्वी को देखकर आपको भी सोचना चाहिये कि जब तपस्वी ऐसा कठोर तप करते हैं तो हमें क्या झूठ, दुराचार आदि जो व्यवहार दृष्टि से भी त्याज्य है, नहीं त्याग देना चाहिए ? इस प्रकार सोचकर जो बातें त्याज्य हैं उन्हें त्यागकर नीति–मान् बनो । नीतिमान् बनते ही धर्मात्मा बन सकते हो । यह सोचकर कि हम गृहस्थ हैं, पाप मत करो । पाप त्याग कर अपनी मार्यादा के अनुसार अच्छे काम करो और जो कुछ करो, परमात्मा के लिए करो ।

हनुमान कवि ने नामभेद होने पर भी ईश्वर की

एकता का जो प्रतिपादन किया है, उस पर आप समीचीन दृष्टि से विचार करें । नाम के फेर में न पड़ कर ईश्वर के गुणों पर विचार करें । मूल तत्त्व देखें और कल्याण का मार्ग अपनाएं।

भगवान् ऋषभदेव का श्रेयांसकुमार के हाथ से पारणा हुआ है । सारे जगत् में यह बात प्रसिद्ध हो गई । देखना चाहिये कि भगवान् का पारणा तो श्रेयांसकुमार के हाथ से हुआ, मगर जो लोग भगवान् को हाथी, घोड़ा, कन्या आदि देने की उद्यत होते थे, उन्हें कोई फल हुआ होगा या नहीं ? जब उन लोगों ने यह सुना है कि भगवान् ने श्रेयांस कुमार के घर इक्षु–रस लिया है तब वे लोग सोचने लगे और पश्चात्ताप करने लगे कि हम लोग भ्रम में थे कि भगवान् को आहार के बदले हाथी घोड़ा आदि देने की तैयार होते थे ! भगवान् को हाथी–घोड़े की आवश्यकता ही क्या है? हमारे घर में खाने–पीने की वस्तुएं भी पड़ी थीं, फिर भी हमने भगवान् के सामने वह वस्तुएं पेश नहीं की । यह हमारा कितना अज्ञान है ! हाय! आान कितना अनर्थकारी होता है!

लोग इस प्रकार पश्चाताप करने लगे और श्रेयांसकुमार के पैरों में पड़ने लगे । सभी ओर श्रेयांसकुमार की प्रशंसा होने लगी । इस तरह उन लोगों को भी लाभ ही हुआ । कई लोग कहने लगते हैं कि हमारे पास धन नही है । हम परमात्मा का भजन किस प्रकार करें ? मगर इस वृत्तांत से यह समझ लेना चाहिये कि परमात्मा को धन की आवश्यकता

नहीं है । भक्ति धन से ही नहीं होती ।

भगवान् मौन थे लकिन लोग तो दाता का ही गुण–गान करते थे । इससे प्रकट है कि भगवान् ने जब मोक्षधर्म प्रकट किय, उससे पहले ही श्रेयांसकुमार ने दान–धर्म प्रकट किया था, जो मोक्ष का पाया है । मोक्ष का पाया ही न हो तो मोक्ष कैसे मिल सकता है ?

यद्यपि मोक्ष के लिए दान आवश्यक है लेकिन आज लोगों में दान की वृत्ति कम हो रही है । लोग जो कुछ देते भी हैं उसके बदले अखबारों में नाम चाहते हैं । मगर दान कैसा होना चाहिए, इस संबंध में गीता में कहा है –

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्विक बिन्दु :।।

अर्थात्–जो दान देश–काल पात्र देखकर बिना किसी प्रत्युपकार की भावना के दिया जाता है, वही दान सात्विक है।

जिसको जिस समय जिस वस्तु की आवश्यकता है, उसको उस समय वही वस्तु देना विवेकयुक्त है । दूसरे को उस चीज की जरूरत है और अपने पास वह चीज है तो उसे दूसरे को दे देने की उदारता रखना ही दान है । दान में देश, काल, पात्र आदि रखने की आवश्यकता है । इन बातों का विवेक होना ही चाहिये । ऐसा न हो कि प्यास के मारे जिसका कंठ सूख रहा हो उसे भोजन लेने को कहा जाय और जो भूख का मारा छटपटा रहा है उसे पानी बतलाया

जाए । ऐसा हुआ तो क्या यह काल और पात्र का विवेक कहलाया । दान देकर फिर इस बात की भी चिन्ता करनी चाहिये कि जिसे हमने दान दिया था, उसका क्या हुआ ? आप कुत्ते को रोटी डाल देते हैं लेकिन फिर यह भी देखते हैं कि उनका क्या होता है ? बहुत से लोग तत्काल आवेश में आकर कुछ कर डालते हैं या दे देते हैं लेकिन देश, काल और पात्र का ध्यान न रखा तो वह दान भी पूरी तरह सफल नहीं होता ।

प्रत्येक कार्य में ज्ञान की आवश्यकता है । भगवान् ऋषभदेव कष्ट सहते हुए घर-घर इसीलिये घूमे थे कि कौन ज्ञानवान् होकर इस बात को समझें कि मुनि को किस प्रकार दान देना चाहिये ? भगवान् दूसरों को विवेक देने के लिये घर-घर घूमे और निराहार रहे तो क्या आप अपनी भलाई का विवेक नहीं कर सकते और घर वालों को भी विवेक नहीं सिखा सकते ?

सत् और असत् को पहचानना ही विवेक कहलाता है। सत् असत् के विवेचन को ही विवेक कहा गया है । अर्थात् अपने कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य की पहचान होना विवेक या ज्ञान है ।

भगवान् ने सबको ज्ञान के सम्बन्ध में विवेक सिखलाया। उस समय दान लेने वाले केवल भगवान् ही थे और दान देने वालों की कमी नहीं थी । फिर भी भगवान् ने सब को विवेक सिखलाना आवश्यक समझा ।

भगवान् एक बार विनीता नगरी की तरफ चले । विनीता नगरी में मरुदेवी माता 'हाय ऋषभ, हाय ऋषभ' कहकर भगवान् का ही स्मरण किया करती थी । भगवान् ने तो कष्ट सहन करके तत्त्वज्ञान प्रकट किया था और माता भगवान् को ही स्मरण किया करती थीं । फिर भी दोनों को एक ही गति प्राप्त हुई । इस आधार पर सोचना चाहिये कि भगवान् की भक्ति की कैसी महिमा है !

माता मरुदेवी की भगवान् के विछोह में खाना–पीना आदि कुछ भी नहीं सुहाता था । कहा भी है –

क्लेशैर्युतो मनसि चेन्नहि किंचिदस्ति ।

सभी वस्तुएं यदि सामने मौजूद होने पर भी अगर चित्त में शांति न हो तो कोई वस्तु अच्छी नहीं लगती । लेकिन चित्त में शांति न होने या वस्तु अच्छी न लगने के मुख्य दो कारण होते हैं – एक तो संसार से विरक्ति और दूसरा किसी परिजन का वियोग ।

माता को किसी चीज की कमी नहीं थी । उनकी सेवा करने वाले भरत और बाहुबली जैसे पौत्र थे । उनकी रानियां भी माता की आज्ञा पालने में अपना अहोभाग्य मानती थीं । उनके पास हाथी थे, घोड़े थे सभी कुछ था। जिस ओर वे दृष्टि घुमाती, आनन्द ही आनन्द था । सब लोग हाथ जोड़कर उनकी सेवा में उपस्थित रहते थे । फिर भी ऋषभदेव के बिना उनके लिये सभी कुछ सूना था। वे रात–दिन ऋषभदेव को ही याद किया करती । भक्ति के मार्ग का यह अनोखा उदाहरण है । आप भी जब

यह मानने लगें कि हमें चाहे कितनी ही चीजें क्यों न मिल जाएं, अगर परमात्मा नहीं मिला है तो कुछ भी नहीं मिला है तभी समझना कि हमारे चित्त में भगवान् की भक्ति है ।

माता मरुदेवी रात के समय, अचानक सोने से उठकर कहने लगती–क्या ऋषभ आया है ? ऋषभ ! ऋषभ कहां है ?

तब सुनन्दा और सुमंगला कहतीं–माता ! पागल क्यो हुई जा रही हो ? तुम्हारी आज्ञा पाकर ही तो वह गये हैं । अब जल्दी लौट आएंगे ।

माता व्याकुल होकर कहती–वह आयेगा ? कब आएगा? तुम मुझे फुसला तो नहीं रही हो ? क्या वह सचमुच आएगा?

भरत की रानियां कहतीं–माता, धीरज रखो । हम आपके पौत्र से कहेंगी कि आप राजपाट मे ही भूल रहे हैं और यह जानने का प्रयत्न नहीं करते कि भगवान् कहां है ?

भरत की रानियों के इस प्रकार कहने पर माता कहतीं–बहुओं, तुम सुलक्षणा हो । लेकिन ऋषभ कब आएगा?

माता को इस प्रकार बहुत तरह से संतोष देने का प्रयत्न किया जाता, मगर थोड़ी ही देर में फिर वही रट

लगातीं---ऋषभ ! कहां हैं ? तू कब आएगा ?

कभी-कभी सान्त्वना देने पर वह कहती-मैं जब तक ऋषभ को आंखों से न देख लूं, और उसके शब्द कानों से न सुन लूँ, तब तक मुझे संतोष नहीं होने का!

जब भरत माता के पास जाते तो माता उन्हें मीठासा उलहना देती-भरत ! तू राजपाट पाकर मेरे ऋषभ को बिलकुल भूल गया है ! घर में मैं उसे किस प्रकार रखती ! अब कौन जाने वह कैसे रहता होगा ? इस समय उसकी क्या दशा होगी ?

माता की व्यथा से सनी वाणी सुनकर भरत कांप उठते। वह सोचने लगते-माता का हृदय कैसा होता है ! माता के हृदय को माता के सिवाय और कौन जान सकता है?

भक्त का हृदय जब माता के हृदय के समान बन जाता है, तभी उसकी परमात्मा से भेंट होती है ।

माता की उत्कंठा और व्यथा देखकर भरत सोच-विचार में पड़ जाते । उनकी समझ में ही न आता कि क्या कह कर माता को धीरज बंधाऊं ! भगवान् ज्ञानी हैं । वे स्वयं माता की यह दशा जानते हैं । मैं माता को क्या समझाऊं !

पुरिमताल नगर में आते-आते भगवान् को अनन्तज्ञान और अनन्तदर्शन की प्राप्ति हुई । अयोध्या में भगवान् का समवसरण हुआ । भरत को खबर लगी कि भगवान् केवलज्ञान

और केवल दर्शन की लक्ष्मी लेकर पधारे हैं । वे भगवान् की सराहना करके अपने आप को राजपाट उलझे रहने के कारण धिक्कारने लगे । उन्होंने सोचा–भगवान् के पधारने से माता की अभिलाषा पूर्ण हो गई ।

भरत माता मरुदेवी के पास पहुंचे । माता ने पूछा भरत! आज तू इतना प्रसन्न क्यों दिखाई दे रहा है ?

भरत ने मुस्करा कर कहा–माता, आज बड़े आनन्द का समाचार मिला है । आप रात–दिन जिनके लिये चिन्ता करती रहती थीं और जिनका नाम रटा करती थी, वे भगवान् पधार गये हैं ।

यह सुनते ही माता की प्रसन्न का पार न रहा । उन्होंने कहा–ऋषभ आ गया ? पर वह घर पर क्यों नहीं आया ? खैर नहीं आया तो न सही । बहुत दिनों में लौटा है । मैं जाकर बुला आती हूं ।

लोग कहते हैं–तत्त्वज्ञान के बिना मोक्ष नहीं हो सकता। यह कहना कथंचित ठीक है, लेकिन जिसको अन्तरात्मा में परमात्मा सम्बन्धी प्रेम एकरस हो गया है, उसे तत्त्वज्ञान स्वयं ही प्राप्त हो जाता है । किसी कारीगर ने कितना ही श्रम करके सुन्दर चित्र बनाया हो । वह चित्र अगर स्वच्छ कांच के सामने रखा जायेगा तो अनायास ही वह कांच में प्रतिबिम्बित हो जाएगा । कारीगर को चित्र बनाने में देर लगती है, श्रम भी करना पड़ता है; मगर कांच में प्रतिबिम्ब पड़ते देर नहीं लगता । इसी प्रकार चाहे स्वयं की करनी नहीं के बराबर हो, तब भी हृदय अगर स्वच्छ

तो उस पर महापुरुष की करनी का प्रतिबिम्ब अंकित हो ही जाता है । मरुदेवी माता में यद्यपि स्नेह–राग है, फिर भी उनका हृदय शुद्ध है । इसी से वह कहती है कि ऋषभ को मैं ही क्यों न बुला लाऊँ !

माता का कथन भरत ने भी सुना । उन्होंने सोचा माता इस समय हर्ष की चरम सीमा में हैं । भगवान् घर पर नहीं पधारेंगे, यह कहकर उनके हर्ष को एकाएक आघात पहुंचाना उचित नहीं है । गीता में कहा है –

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम् ।

अर्थात्–जो अच्छे काम में लगा है उसकी बुद्धि में गड़बड़ पैदा कर देना उचित नहीं है ।

एवन्ताकुमार से गौतम स्वामी क्या अपना हाथ नहीं छुड़ा सकते थे ? लेकिन ऐसा करके उन्होंने एवन्ताकुमार के हर्ष का छेदन नहीं किया ।

पूज्य श्रीलाल जी महाराज कहा करते थे–मेरा विवाह हुआ और मैं वापस लौटा तब तपस्वी पन्नालालजी महाराज वहां विराजमान थे । उन्हें देखकर मुझे बहुत प्रसन्नता हुई और मैं उनके पैर पकड़ने के लिये दौड़ा । मुझे यह भी याद नहीं रहा कि मेरे पास संगठा (सचित्त–स्पर्श) होने योग्य कोई वस्तु है ! मुझे महाराज का पैर पकड़ने के लिय जाते देखकर लोग कहने लगे–संगठा होगा, संगठा होगा । हल्ला–सा मच गया । लेकिन तपस्वी जी महाराज ने कहा–इस तरह किसी के हर्ष का छेदन नहीं करना चाहिये । इसे हर्ष में इस बात

का ध्यान नहीं रहा ।

भरत ने माता से कहा—माताजी, हम लोग भगवान् के पास चलते ही हैं । फिर जैसा आपको उचित लगे, करना ।

माता—ठीक है । जल्दी करो । फिर उन्होंने बहुओं से कहा—अरी तुम सब भी जल्दी तैयार हो जाओ । आज अपनी चिरकाल की साध पूरी हो रही है आज मेरा ऋषभ आया है! चलो, सब मिलकर उसे घर ले आएं !

भरत ने अपनी सेना सजायी । हाथी सजाये । घोड़े सजाये । उधर भरत की रानीयां तैयार होकर माता के पास आ पहुंची । सबको देखकर माता विचारने लगीं—ऋषभ के आने से मुझे ही नहीं, सभी को हर्ष है । वास्तव में ऋषभ सभी का है । वह सारे जगत् का रक्षक है ।

माता हाथी पर सवार होकर भगवान् के पास चली । भरत और बाहुबली उन पर चंवर ढोल रहे थे । उनके पुण्य का क्या कहना है ? यद्यपि उनके लिय सभी चीजें प्रस्तुत थीं, मगर उनका मन तो भगवान् में ही लगा था । वास्तव में जो माता मरुदेवी की तरह संसार की सब वस्तुओं को एक किनारे रख परमात्मा के चरणों में ही मन लगाता है, वहीं सच्चा पुण्यवान् है और वही अपना शाश्वत कल्याण कर सकता है ।

माता हाथी पर सवार थी और भरत एवं बाहुबली जैसे महापुरुष उन पर चंवर ढोल रहे थे, फिर भी माता उन्हें इस गौरव का ध्यान ही नहीं था । जिनका मन ए

प्रभु में ही लीन था । आज जरा–सा ऐश्वर्य पाकर लोग जमीन पर पांव नहीं रखते । नया जूता पहनकर ही अभिमान करते हैं । सोचने लगते हैं–ओह ! मेरे जैसा दूसरा कौन है ? उन्हें यह नहीं मालूम कि वे जिस सम्पदा पर अभिमान करते हैं वह कितनी तुच्छ है ! ऐसी नगण्य सम्पदा पर क्या अभिमान !

माता को भगवान् के पास पहुंचने की उतावली थी । वह सोच रही थी कि मैं कब ऋषभ को देखूं ! इस कारण कहने लगीं–'यह हाथी चलता क्यों नहीं हैं ! क्या आज इसे खाने को नहीं मिला ?'

आखिर जिस हाथी पर माता सवार थीं वह भगवान् के समीप जा पहुंचा । भरत ने माता से कहा–माता, देखो, भगवान् वे सामने विराजमान हैं ।

माता–कहां ? मुझे तो नहीं दिखाई दिया ।

भरत ने भगवान् की ओर ऊंगली बताकर कहा–देखो, वे रहे !

भगवान् को देखकर माता कहने लगीं–ऋषभ ऐसा वैभवशाली हो गया है ! अपने वैभव में वह मुझे भी भूल गया है क्या ? इसमें आश्चर्य ही क्या है ! अरे इसके सामने इन्द्र, इन्द्रानी देव और देवियां हाथ जोड़े हैं । ऐसी सम्पदा पाकर मुझे भूल जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं हैं । देखो न, मुझे देखकर वह न सामने आया और न उठा ही !

भरत वास्तविक परिस्थित से परिचित थे । वे अपनी भोली दादी को क्या उत्तर देते ? उनकी समझ में ही नहीं आता था कि मैं इन्हें किस प्रकार समझाऊं ? समझा देने में माता के दिल को चोट लगने की आशंका भी थी । अतएव उन्होंने टालते हुए कहा—माताजी, आप उन्हीं से पूछना कि वे क्यों नहीं उठे ?

माता कहने लगी—ऋषभ तू ऐश्वर्य पाकर मुझे भूल गया परन्तु मैं तुझे नहीं भूली हूं । मैं क्षण—क्षण में तुझे याद किया करती हूं । लेकिन तू मुझसे बोलता तक नहीं है ! क्या मुझसे कोई बड़ा अपराध बन गया है ? तू बोल या मत बोल, मेरी गति—मति तू ही है ।

यद्यपि भगवान् सर्वज्ञ होने के कारण माता के इन भावों को भली—भांति जानते थे; लेकिन वे यह भी जानते थे कि यह समय माता के मोक्ष जाने का है । अतएव माता से बोलकर विघ्न न करना चाहिये ।

जब हाथी और भी सन्निकट आ गया, तब वह कहने लगीं—अरे ऋषभ तो अब भी नहीं उठा ? वास्तव में इस पर मेरा राग है । मुझे इस राग के घेरे से बाहर निकलना चाहिये। यद्यपि अप्रशस्त राग से प्रशस्त राग अच्छा है लेकिन उससे भी आत्मा को विलग होना चाहिये । जब ऋषभ ने मुझे और इस संसार को त्यागा है तभी उसे यह [illegible] मिली है। इससे स्पष्ट है कि त्याग से ही सब कुछ मिलता है। ऋषभ का मौन मानो कानों से टकरा कर कहता है—[illegible]

जागो और मोह त्यागो । मोह त्यागने से ही इसे यह ऋद्धि मिली है । मैं मोह त्याग दूंगी तो क्या मुझे यह ऋद्धि नहीं मिलेगी ?

इस प्रकार सोचकर माता ने भरत से कहा हे भरत ! जगत् जंजाल है ।

एगो में सासओ अप्पा नाणदंसणलक्खणो ।
सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा ।।

भरत ! यह सारा संसार जंजाल है । केवल आत्मा ही शाश्वत है । संसार की किसी भी वस्तु के साथ आत्मा का लगाव नहीं है । यह सब कल्पना का ही खेल है । आत्मा सब से भिन्न है । जब मैं यह बात जान गई हूं तो संसार के जाल में क्यों पड़ूं ?

इस प्रकार कहकर माता ने अपने आत्मा को राग से पृथक् किया । आत्मा के लिये अप्रशस्त राग को जीतना उतना कठिन नहीं, जितना प्रशस्त राग को जीतना कठिन होता है ! मगर माता ने प्रशस्त राग को भी जीत कर दिखा दिया कि इस राग को भी जीतना चाहिये ।

माता ने आत्मा को राग से खींचकर मोह नष्ट कर दिया । बारहवें गुणस्थान की अवस्था प्राप्त की । फिर तेरहवें गुणस्थान की स्थिति भोगकर सिद्धि प्राप्त की ।

माता को देखकर भरत सोचने लगे–माता यह क्या कर रही है ! उन्होंने प्रकट में कहा–माता, आप अपने पुत्र को

देखिए न ! लेकिन माता तो सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो चुकीं थी। माता का शरीर देखकर वे जान गये कि माता ने सिद्धि प्राप्त कर ली है । वह सोचने लगे–जिस प्रयोजन के लिये मानव शरीर की प्राप्त होती है, माता का वह प्रयोजन पूर्ण हो गया माता का उद्देश्य सफल हो गया ! जिस काम के लिये दीपक हाथ में लिया जाता है । वह काम हो जाने के बाद दीपक त्याग दिया जाता है इसी प्रकार महापुरुष काम होने तक ही व्यवहार रखते हैं और काम हो जाने पर व्यवहार त्याग दते हैं । माता ने भी शरीर का काम हो जाने पर शरीर त्याग दिया है ।

मोह के कारण भरत और बाहुबली माता के लिय शोक करने लगे । उस समय इन्द्र ने आकर उनमें कहा–माता के लिए शोक मनाना वृथा है । वह प्रथम केवली हुई है । भगवान् ने इतने कष्ट सह कर जो दिव्य ज्ञान प्राप्त किया है, उसे माता ने सहज ही प्राप्त कर लिया है । उन्होंने मानव–जीवन की चरम सिद्धि प्राप्त की है । उनके लिए दुःख न करो । शोक न मनाओ ।

इस प्रकार सब को समझा कर इन्द्र ने माता के शरीर का अन्तिम संस्कार किया । माता के शरीर को देखकर भरत आदि सबके मन में यह भावना हुई कि माता के हृदय में भगवान् के प्रति इतनी उत्कट तल्लीनता थी कि उन्होंने हाथी के हौदे पर बैठे–बैठे ही मोक्ष प्राप्त कर लिया । यह क्या कुछ साधारण बात है ! भगवान् के प्रति ऐसा प्रेम हमें कब प्राप्त होगा ?

आत्मा का परम कल्याण एक ही जन्म में नहीं होता । उसके लिये अनेक जन्मों की साधना के संस्कारों की आवश्यकता रहती है ।

माता के हृदय में भगवान् के प्रति जो प्रेम था, उसे आदर्श मानकर आप भी भगवान् के प्रति प्रेम करेंगे तो आपका भी कल्याण होगा ।

जवाहर-साहित्य

किरण		किरण	
1.	दिव्य दान	22.	सम्वत्सरी
2.	दिव्य जीवन	23.	जामनगर के व्याख्यान
3.	दिव्य संदेश	24.	प्रार्थना प्रबोध
4.	जीवन धर्म	25.	उदाहरण मांला भाग-1
5.	सुबाहुकुमार	26.	उदाहरण माला भाग-2
6.	रूक्मिणी विवाह	27.	उदाहरण माला भाग-3
7.	जवाहर स्मारक	28.	नारी जीवन
8.	सम्यक्त्व पराक्रम भाग-1	29.	अनाथ भगवान भाग-1
9.	सम्यक्त्व पराक्रम भाग-2	30.	अनाथ भगवान भाग-2
10.	सम्यक्त्व पराक्रम भाग-3	31.	गृहस्थ धर्म भाग-1
11.	सम्यक्त्व पराक्रम भाग-4	32.	गृहस्थ धर्म भाग-2
12.	सम्यक्त्व पराक्रम भाग-5	33.	गृहस्थ धर्म भाग-3
13.	धर्म और धर्म नायक	34	सती राजमती
14.	राम वन गमन भाग-1	35.	सती मदन रेखा
15.	राम वन गमन भाग-2	36.	हरिशचन्द्र तारा
16.	अंजना	37.	सकडाल पुत्र
17.	पाण्डव चरित्र भाग-1	38.	जवाहर ज्योति
18.	पाण्डव चरित्र भाग-2	39.	जवाहर विचारसार
19.	बीकानेर के व्याख्यान	40.	सुदर्शन चरित्र
20.	शालिभद्र चरित्र	41.	सती बसुमति भाग-1
21.	मोरवी के व्याख्यान	42.	सती वसुमति भाग-2

43 से 50 भगवती सूत्र के व्याख्यान भाग-1 से 8

51 से 53 राजकोट के व्याख्यान भाग-1 से 3

आत्मा का परम कल्याण एक ही जन्म में नहीं होता । उसके लिये अनेक जन्मों की साधना के संस्कारों की आवश्यकता रहती है ।

माता के हृदय में भगवान् के प्रति जो प्रेम था, उसे आदर्श मानकर आप भी भगवान् के प्रति प्रेम करेंगे तो आपका भी कल्याण होगा ।

जवाहर-साहित्य

किरण		किरण	
.	दिव्य दान	22.	सम्वत्सरी
.	दिव्य जीवन	23.	जामनगर के व्याख्यान
.	दिव्य संदेश	24.	प्रार्थना प्रवोध
.	जीवन धर्म	25.	उदाहरण माला भाग-1
.	सुबाहुकुमार	26.	उदाहरण माला भाग-2
.	रुक्मिणी विवाह	27.	उदाहरण माला भाग-3
.	जवाहर स्मारक	28.	नारी जीवन
.	सम्यक्त्व पराक्रम भाग-1	29.	अनाथ भगवान भाग-1
.	सम्यक्त्व पराक्रम भाग-2	30.	अनाथ भगवान भाग-2
0.	सम्यक्त्व पराक्रम भाग-3	31.	गृहस्थ धर्म भाग-1
11.	सम्यक्त्व पराक्रम भाग-4	32.	गृहस्थ धर्म भाग-2
12.	सम्यक्त्व पराक्रम भाग-5	33.	गृहस्थ धर्म भाग-3
13.	धर्म और धर्म नायक	34	सती राजमती
14.	राम वन गमन भाग-1	35.	सती मदन रेखा
15.	राम वन गमन भाग-2	36.	हरिशचन्द्र तारा
16.	अंजना	37.	सकडाल पुत्र
17.	पाण्डव चरित्र भाग-1	38.	जवाहर ज्योति
18.	पाण्डव चरित्र भाग-2	39.	जवाहर विचारसार
19.	वीकानेर के व्याख्यान	40.	सुदर्शन चरित्र
20.	शालिभद्र चरित्र	41.	सती वसुमति भाग-1
21.	मोरवी के व्याख्यान	42.	सती वसुमति भाग-2

43 से 50 भगवती सूत्र के व्याख्यान भाग-1 से 8

51 से 53 राजकोट के व्याख्यान भाग-1 से 3